# THE BOOK WAS DRENCHED

UNIVERSAL
LIBRARY

OU_180017

UNIVERSAL
LIBRARY

# स्केण्डल

मोहनसिंह सेंगर

किताब महल, इलाहाबाद

प्रथम संस्करण, १९५४

प्रकाशक—किताब महल ५६ ए, जीरो रोड, इलाहाबाद।
मुद्रक—अनुपम प्रेस, १७ जीरो रोड, इलाहाबाद।

# भूमिका

इस संग्रह के नामकरण और इसकी कहानियों की भी एक कहानी है, जो संक्षेप में इस प्रकार है :—

"सुना तुमने ?"—रोज़ की तरह उस दिन भी मेरे सामने आकर जब चाची ने आँखें फाड़ और मुँह चौड़ा कर अपना पेटेण्ट प्रश्न दोहराया, तो हस्बदस्तूर मैंने अपनी अज्ञता प्रकट करते हुए सिर हिला दिया।

इस पर अपनी विजय के गर्व एवं अखंडित उत्साह के साथ चाची ने अपने आत्म-विश्वास को पूरी तरह तौलते हुए स्थिर स्वर में कहा—"यह जो अपने पिछवाड़े पूरब की तरफ़ का एक पण्डित आकर रहा है, उसकी लड़की भी बिगड़ गई है। हरे, हरे, कलियुग है, घोर कलियुग !"

"पर चाची"—सहज भाव से मैंने पूछा—"वह तुम्हारे यहाँ आती-जाती नहीं, तुमसे उसकी बोल-चाल नहीं; फिर आख़िर तुम्हें उसके बिगड़ने का पता कैसे लगा ?"

"ऊँह ! कल का छोकरा, आया है मेरे मुँह लगने ! मैं क्या कोई अन्धी या बहरी हूँ, जो सब-कुछ देखती-सुनती नहीं ? यह छिनाल नित नया यार ताँगे में बिठा कर लाती है। अभी-अभी एक छैले को लेकर आई है। मेरी बात पर विश्वास न हो, तो ख़ुद जा कर अपनी आँखों से देख ले।"

मैं ग़ौर से चाची का चेहरा देख रहा था। उस पूरब वाले पण्डित की लड़की से हमारा दूर-दराज़ का भी कोई रिश्ता नहीं, कभी बोल-बतलाव या आना-जाना भी नहीं; फिर भी चाची रोज किस ज़िम्मेदारी और गम्भीरता के साथ उसको 'बिगड़ती' देखती हैं और किस अधिकार के साथ उस बात का यत्र-तत्र-सर्वत्र प्रचार भी करती हैं ! अन्तिम वाक्य सुन

कर मैं अपनी हँसी नहीं रोक सका। कहकहा मार कर मैंने कहा—"अरे वाह चाची, ख़ूब कहा तुमने भी ! ओह !!"

चाची मानो आसमान से ज़मीन पर आ गिरीं। उनके तेवर चढ़ गये। तनिक हतप्रभ होकर बोलीं—"सुनूँ तो बात भी क्या है, या वैसे ही पागलों की तरह ही-ही किये जायगा ?"

मैंने अपनी हँसी पर काबू पाने की कोशिश करते हुए कहा—"तो सुनो मैं जब कॉलेज से लौट रहा था, तो रास्ते में पंडितजी मिल गए। बोले, लड़की को दौरा आ गया है। तुम इसे ताँगे में लेकर घर चलो, मैं डॉक्टर को लेकर आया। सो मैं ही उसे ताँगे में अभी-अभी घर तक पहुँचा कर आ रहा हूँ। अभी पाँच मिनट भी न हुए होंगे। कोई छैला या नया यार वह बेचारी नहीं लाई है।"

अपनी बात जाती देख कर चाची का चेहरा सफ़ेद पड़ गया। पर भला वे हार मानने वाली कहाँ थीं ? तुनक कर बोलीं—"बस, बस, रहने दे अपनी वक़ालत। मैंने ये बाल धूप में नहीं पकाये हैं, समझा ?" और तेजी से वे मेरे सामने से हट गईं।

और उस दिन पहली बार मैं स्मृतियों के उस ताने-बाने को फिर से उधेड़ने लगा, जो चाची से 'सुना तुमने ?' के उत्तर में मिली हुई जानकारी से स्वतः बुन गया था और जिसकी अधिकांश बातों पर मैं विश्वास भी कर चुका था। आज मेरे सामने जैसे एक बहुत बड़ा रहस्य खुला। तो क्या चाची ने उस बेचारे पंडित की लड़की के बिगड़ने की तरह ही दूसरों के बारे में भी तरह-तरह के स्केएडलों के महल कल्पना से ही खड़े किए हैं ? क्या पड़ोसी वकील साहब के लड़के ने जिस महाराष्ट्री महिला से शादी की है, वह सचमुच वेश्या नहीं थी ? क्या वास्तव में स्थानीय कन्या पाठशाला की प्रधानाध्यापिका योग्यता के बजाय अपना सतीत्व बेच कर तरक्की नहीं कर सकती हैं ? इतना ही क्यों, न जाने कितने वर्षों से किस-किस को रोक-रोक कर चाची ने जो पूछा है—'सुना तुमने ?'

और फिर परिचित, अपरिचित, अर्द्ध-परिचित लोगों के बारे में जो नये-नये रहस्योद्घाटन किये हैं, क्या उन सबकी तह में इतनी ही यथार्थता थी ? धीरे-धीरे मुझे चाची के बताये हुए कई क़िस्से याद आये और ऐसा लगा मानो बक़ौल चाची के हमारे रिश्ते-नाते और पास-पड़ोस में ऐसा कोई मर्द या औरत नहीं, जिसका चाल-चलन ठीक हो या जो झूठा, चोर और ख़तरनाक न हो—जब कि सचाई यही है कि उनमें से अधिकांश चाची या सैकड़ों दूसरे व्यक्तियों से कहीं ज़्यादा नेक और भले थे और उन्हें शायद मालूम भी न हो कि चाची ने मोहल्ले भर में उनके बारे में कैसी-कैसी बातें उड़ा रखी हैं।

आज जब मैं अपने चारों ओर नजर घुमा कर देखता हूँ, तो समाज में अनेक शरीफ स्त्री-पुरुषों के मुँह पर अपनी चाची का चेहरा लगा हुआ पाता हूँ। किसी भी आदमी को ये लोग बख्शते नहीं। और इन चर्चाओं में वे जितना रस लेते हैं, जिस अधिकार के साथ बातें करते हैं, उसे देख कर तो ऐसा लगता है, मानो उनके जीवन में यदि कोई गम्भीर और महत्त्व की बात है तो सिर्फ यही। मनोविकास की यह विकृति हीन संस्कारों की परिचायक है। विदेशों में भी इसकी कमी नहीं, पर वहाँ इसका दायरा कुछ तबक़ों तक ही महदूद है। लेकिन हमारे यहाँ तो दुर्भाग्यवश मध्य और उच्च वर्ग इस सामाजिक व्याधि से बुरी तरह पीड़ित हैं। गांधी जी, नेहरू जी, सी० आर० दास, श्रीमती पण्डित, श्रीमती नायडू और न जाने कितने शीर्ष स्थानीय नेता भी इस तरह के तज़किरे से बचे नहीं हैं। और कभी किसी ने यह सोचने का शायद कष्ट ही नहीं किया कि इस अभद्र कानाफूसी की लहरों पर चलने वाले अधिकांश जहाज़ छायामात्र हैं! उन्हें फूँक मार कर केवल इसलिए चलाया जा रहा है कि जीवन से असन्तुष्ट एवं असुखी हीन संस्कार वाले लोगों की ज़िन्दगी का यही एकमात्र शग़ल है! आपत्ति कोई इसलिए नहीं करता कि एक बहुत बड़े जन-समुदाय का यह ऐसा 'समाज-व्यसन'

बन गया है, जिसमें तथाकथित निष्पक्ष और निर्लिप्त लोगों को भी रस आता है।

इसे केवल मज़ाक, बेहूदगी या सहज मूर्खता कह कर टाला नहीं जा सकता। समर्थ लोग इसकी उपेक्षा करते और एक हद तक कर भी सकते हैं; पर साधारण व्यक्तियों के जीवन में इससे कभी-कभी कितनी कटुता, सन्देह और अनावश्यक वितण्डावाद खड़े हो जाते हैं, इसे भुक्तभोगी ही जान सकते हैं। जूलियस सीज़र और नेपोलियन, एलिज़ाबेथ और विक्टोरिया; विल्सन और पार्नेल, एमिल ज़ोला और ऑस्कर वाइल्ड आदि के जीवन में इस जघन्य प्रवृत्ति ने जिस अप्रियता, हीन आक्रोश और मानसिक व्यग्रता को जन्म दिया; आज उसकी जलन की केवल कल्पना ही की जा सकती है। क़ानून बना कर इसका रोका जाना संभव नहीं और न किसी प्रकार के प्रतिबन्ध से ही इसे समाप्त किया जा सकता है। जो इसके कुप्रभाव को महसूस करते हैं, उन्हें स्वयं इसमें रस लेने का लोभ संवरण करना चाहिये और दूसरों को भी इससे उदासीन करना चाहिये।

इस रोग से मुक्त हुए बिना न केवल हमारे संस्कारों में ही एक बहुत बड़ी कमी रह जाती है, बल्कि न जाने कितनों की ज़िन्दगी भी हराम हो जाती है। उदाहरण के लिए अनेक निर्दोष कन्याओं के विवाहों में इस दुष्प्रवृत्ति के कुपरिणाम-स्वरूप बाधा ही नहीं पड़ी है, उनका जीना भारी हो गया है। अनेक सुखी दाम्पत्य-जीवन झूठे कुत्सा-प्रचार के कारण धधकती हुई चिता बन गए हैं, अनेक घर बरबाद हो गए हैं और अनेक स्वर्ग नरक बन गए हैं। इतना ही नहीं, एक ओर हम स्त्री-शिक्षा के प्रसार, पर्दा हटाने और समान स्वतंत्रता की वक़ालत करते हैं और दूसरी ओर स्त्री-पुरुष के सहज सम्पर्क तक को सन्देह और कुत्सा की दृष्टि से देखते हैं। इससे समाज में झूठी नैतिकता और कृत्रिम मूल्य-

मान उठ खड़े हुए हैं, जो भीतर ही भीतर से उसे खोखला कर रहे हैं।

स्केण्डल-मांगरिंग अथवा कुत्सा-प्रचार की इस प्रवृत्ति ने हमारे सामाजिक और नैतिक विकास में जो बाधा पहुँचाई है, उससे जो वातावरण बना है, नैतिकता की मिथ्या मान्यताओं और उससे अधिक नैतिक पतन की शायद कल्पना भी नहीं की जा सकती। इन कहानियों में इन्हीं का कुछ पार्श्व-चित्रण है।

कलकत्ता; दीपावली, १९५३ ] **मोहनसिंह सेंगर**

# क्रम


| | | |
|---|---|---|
| १. | स्केण्डल | १ |
| २. | मॉडेल | २२ |
| ३. | अर्थी के आँसू | ३६ |
| ४. | राजीव | ५१ |
| ५. | रतन की माँ | ६५ |
| ६. | चाल-चलन | ८० |
| ७. | बुझती लौ | ६३ |
| ८. | रंजना | १०५ |
| ६. | अणची की हवेली | ११३ |
| १०. | मदहोश | १३० |
| ११. | सड़क का मागी | १४१ |
| १२. | प्रतुल | १५१ |

# स्कैण्डल

रात को देर से सोने के कारण उस दिन सुबह नीलकण्ठ की आँख ज़रा देर से खुली। पूर्व की खिड़की से फ़र्र-फ़र्र आने वाली प्रातःकाल की हवा—जो उसे मानों थपकियाँ दे-देकर सुला रही थी—अब बन्द हो चुकी थी। उसके बदले में बाल-सूर्य की किरणें उसके मुँह पर हल्की-सी गरमी डालकर उसे उठाने का यत्न कर रही थीं। सहसा किसी की आवाज़ ने चौंका दिया। आँखें खोलने पर नीलकण्ठ को मालूम हुआ कि चन्द्रा एक हाथ में चाय का प्याला और दूसरे में नाश्ते के लिए एक तश्तरी में कुछ मिठाई लिये खड़ी है। चादर दूर करके आँखें मलता हुआ नील-कण्ठ उठ बैठा।

चन्द्रा ने पलङ्ग के पास रखी हुई छोटी मेज़ पर चाय का प्याला और मिठाई की तश्तरी रखते हुए कहा—"तुम्हारी नींद का भी कोई ठिकाना है, निकू भैया! देखो कितनी धूप चढ़ आई है! चाय दूसरी बार बनाकर लाई हूँ—पहली तो बिल्कुल ठण्डी हो गई थी। ऐसी भी भला क्या नींद!"

"चन्द्रा, तो तुमने मुझे जगा क्यों नहीं लिया! अरे, मैं कोई नींद थोड़े ही ले रहा था! वैसे ही सुस्ती की वजह से लेटा हुआ था। इस खिड़की से आनेवाली सुहावनी हवा भला आसानी से थोड़े ही उठने देती है।"

"अच्छा तो अब उठो। आज बड़ा काम करना है। घर में न दाल है, न साग-भाजी। घी तो रात को ही ख़त्म हो गया था।"

"और कह दो—आटा भी नहीं रहा! अरे क्या सब-कुछ आज ही आना है!"

"चलो, जल्दी करो, बातें फिर बनाना।"—कहकर चन्द्रा रसोई घर की तरफ़ चली गई।

चाय पीते-पीते नीलकण्ठ की नज़र अपनी मेज़ पर रखे हुए फूलदान पर पड़ी, जो आज गुलदस्ते के बिना सूना-सा लग रहा था। एक क्षण तक वह फूलदान को देखता रहा, फिर बोला—"चन्द्रा! चन्द्रा!!"

चन्द्रा थाली में चावल लेकर बीनने लगी थी। नीलकण्ठ की आवाज़ सुनकर थाली लिये हुए ही वह उसके कमरे में चली आई और बोली—"क्या है निकू भैया, चाय और लाऊँ क्या?"

"नहीं, चाय-वाय कुछ नहीं चाहिए"—नीलकण्ठ ने ज़रा दृढ़ता से कहा—"आज सुबह तुमने मेरी मेज़ ठीक की थी?"

"यह क्या कोई नयी बात है? अरे, वह तो गङ्गा स्नान करके लौटने के बाद रोज ही मैं करती हूँ। यह भी क्या तुम्हें बताना पड़ेगा?"

"नहीं। पर आज फूलदान में गुलदस्ता क्यों नहीं लगा है?"

चन्द्रा ने एक नजर फूलदान पर डाली और दूसरी नीलकण्ठ के अर्द्ध-म्लान चेहरे पर और सहज मुस्कुराहट से बोली—"ओह तो यह ख़ता हुई है मुझसे; समझे। पर निकू भैया, अब कुछ दिन इसमें गुलदस्ता नहीं लग सकेगा।"

"नहीं लग सकेगा! तुम यह क्या कह रही हो चन्द्रा? इसका मतलब?"

"मतलब यही कि मालिन मना कर गई है। अब वह गुलदस्ता नहीं लायेगी।"

"मना कर गई है? गुलदस्ता नहीं लायेगी? मगर क्यों? मैंने तो उसे महीने-भर के पैसे पेशगी दे रखे हैं। फिर क्या बात है?"

"बात पैसों की नहीं, कुछ और है। बक़ाया पैसे वह वापस कर जायगी।"

"मैं समझा नहीं चन्द्रा, आख़िर ऐसी क्या बात है?"

"बात तो कोई ख़ास नहीं, पर लोग जो न कहें, सो ही थोड़ा है। इनके मुँह कौन लगे ?"

"फिर भी पता तो चले न, कि आख़िर क्या बात है ?

"कल मालिन की लड़की जब गुलदस्ता देने आई थी, तो कह गई थी कि मैं कल से नहीं आऊँगी। माँ ने मना कर दिया है। मेरे कारण पूछने पर पहले तो उसने कुछ भी नहीं बताया ; फिर बोली कि माँ कहती है कि सुबह बहूजी तो गङ्गा नहाने चली जाती हैं। बाबूजी अकेले ही घर में रहते हैं। तू जवान लड़की है। तेरा अकेले में वहाँ जाना अच्छा नहीं। कहती थी—माँ आजकल बीमार है, इसलिए आ नहीं सकती और मैं अकेली भला कैसे आऊँ, जब कि उसने मुझे रोक दिया है ?"

एक फीकी मुस्कुराहट के साथ चाय का प्याला ओठों से लगाते हुए नीलकण्ठ ने कहा—"ओह, यह बात है ! तब तो सती-साध्वी मालिन तक को मेरी शराफ़त पर सन्देह होने लगा है।"

"पर उसकी बात पर क्या ख्याल किया जाय। वह तो निरी गँवार, अपढ़ और मूर्खा है।"

"कुछ भी हो चन्द्रा, पर है तो वह भी उसी समाज का ही एक अंग, जिसने कि समझ और शराफ़त का ठेका ले रखा है। बड़े-बड़े धूर्त्त और दुराचारी तो उसमें आडम्बरों के पर्दे के पीछे देवता-तुल्य पूजित और प्रतिष्ठित हैं; पर उसकी लीक से बाहर के लोग जैसे सब लुच्चे और शोहदे ही हैं।"

चन्द्रा जैसे कुछ समझ नहीं रही थी। डरते-डरते उसने कहा—"इसमें खफ़ा होने की क्या बात है ? गुलदस्ता लाना तो उसी की मर्ज़ी की बात है, कोई ज़बर्दस्ती थोड़े ही है !"

"और हम कुछ भी नहीं ? हमारी मर्ज़ी कोई चीज़ ही नहीं ?" नीलकण्ठ ने उत्तेजित स्वर में कहा।

"यह मैं कब कहती हूँ ! पर ज़रा सब्र रखो। दो-चार दिन में ठीक हो जाने पर मालिन ख़ुद ही गुलदस्ता दे जाया करेगी। तब तक···"

"यह गुलदस्ते की बात नहीं है, चन्द्रा ! तुम शायद महसूस न कर सको कि मालिन की बात ने मेरे दिल को कितनी चोट पहुँचाई है। आख़िर उसने यह कैसे समझ लिया कि हमारे घर में·····

सहसा जैसे किसी ने नीलकण्ठ का मुँह बन्द कर दिया हो। एक क्षण बाद अपने आपको सँभालते हुए उसने कहा—"अच्छा, तुम अपना काम करो चन्द्रा। अब अगर मालिन आए, तो कह देना कि बाक़ी पैसे लौटाने की कोई ज़रूरत नहीं। आइन्दा वह कभी हमारे यहाँ न आये और न कभी फिर गुलदस्ता ही लाये।"

चन्द्रा अभी कुछ कहने ही वाली थी कि नीलकण्ठ उठा और मेज़ पर से शीशे का बहुरङ्गा फूलदान उठाकर खिड़की से बाहर फेंक दिया। नीचे सड़क पर वह ठन्न-से गिरा और टुकड़े-टुकड़े हो गया। चन्द्रा ने एक क्षण तक भाई की क्रोध से तमतमाती हुई मुख-मुद्रा देखी और फिर बिना कुछ कहे ही रसोईघर की तरफ़ चली गई।

—२—

नीलकण्ठ ने एक कन्या-विद्यालय में २-३ घण्टे हिन्दी पढ़ानेवाले अध्यापक की एक जगह के लिए प्रार्थना-पत्र दिया था। आज विद्यालय की प्रबन्ध-समिति के अध्यक्ष ने उसे भेंट के लिए बुलाया था। नाश्ता करके सुबह ६ बजे ही वह वहाँ चला गया था।

चन्द्रा उसकी प्रतीक्षा में बैठी थी। अभी तक उसने खाना नहीं खाया था। भूख तो उसे ज़रूर लग रही थी, पर अकेले खाने को जी नहीं चाहता था। नीलकण्ठ के लौटने में ज्यों-ज्यों अधिक विलम्ब होता जाता था, उसके मन में तरह-तरह की आशङ्काएँ उठ रही थीं। कभी उसे यह ख्याल कर कुछ सान्त्वना भी मिल जाती थी कि शायद नील-

कण्ठ को जगह मिल गई हो और आज से ही उसने पढ़ाना भी शुरू कर दिया हो।

कोई १२॥ बजे के लगभग किसी ने दरवाजे पर दस्तक दी। चन्द्रा ने जाकर दरवाजा खोला, तो देखा कि एक हाथ में फलों का लिफ़ाफ़ा और दूसरे में रूमाल में बर्फ लिये हुए नीलकण्ठ खड़ा है। उसकी सहज मुस्कराहट के बावजूद चेहरे की उदासी छिप नहीं सकी। बर्फ और फल चन्द्रा को देते हुए वह बोला—"मुझे बड़ा खेद है चन्द्रा कि मैंने अब तक तुम्हें भूखों मारा। चलो, अब जल्दी खाना खायँ।" यह कहकर नीलकण्ठ अपने कमरे में कपड़े बदलने चला गया। चन्द्रा उसकी नौकरी के बारे में कुछ पूछना चाहती थी, पर मौक़ा न देख उसने कुछ न पूछा और रसोई में आकर खाना परोसने लगी।

जब दोनों खाना खा रहे थे, तो चन्द्रा ने पूछा—"उस नौकरी का क्या हुआ?"

"दूसरा आदमी रख लिया गया है।" नीलकण्ठ ने बिना चन्द्रा की ओर देखे कहा।

"दूसरा आदमी? कल तो तुम कह रहे थे कि मेरे रखे जाने की पूरी-पूरी आशा है। पढ़ाने में भी तुम सबसे अच्छे साबित हुए हो।"

"पर केवल योग्यता ही तो सब कुछ नहीं है, चन्द्रा! दुनिया में और भी तो बहुत-सी बातें जरूरी होती हैं।"

"तो और ऐसी क्या बात थी?"

"बात तो कोई बहुत महत्त्व की नहीं, पर उनकी समझ है; जैसा चाहें, करें।"

"आख़िर ऐसी क्या बात थी?"

"मुझे रखने का पहले तो निश्चय हो चुका था, पर जब उन्हें मालूम हुआ कि मैं अविवाहित हूँ, तो उन्हें अपना निर्णय बदलना पड़ा।

लड़कियों के विद्यालय में वे एक अविवाहित नौजवान को रखना 'ख़तरनाक' समझते हैं।"

"तो क्या वहाँ और कोई पुरुष-अध्यापक नहीं है?"

"है क्यों नहीं, २-३ हैं; पर वे या तो विवाहित हैं या विधुर और वृद्ध।"

"हूँ" कह कर चन्द्रा चुप हो गई।

नीलकण्ठ ने उसकी ओर देखा नहीं। चन्द्रा कुछ कहना चाहती थी, पर इस समय वह ऐसा करने का साहस अपने में नहीं पा रही थी। ज्यों ही वह तीसरी रोटी नीलकण्ठ की थाली में रखने लगी, उसने उसे रोक देया और कहा—"अब नहीं खा सकूँगा चन्द्रा, आज भूख भी विशेष नहीं है।"

"भूख नहीं है या दाल-शाक ठीक नहीं बने हैं?"—चन्द्रा ने जरा भारी आवाज में कहा।

"नहीं, सब कुछ ठीक बना है, पर देर से खाने के कारण भूख ही नहीं रह गई है।"

चन्द्रा कुछ कहे, इससे पहले ही नीलकण्ठ उठ कर हाथ धोने के लिए गुसलख़ाने की तरफ़ चला गया। चन्द्रा की भी भूख जाती रही। थाली दूर सरका कर वह भी उठ खड़ी हुई।

अपने कमरे में जा कर नीलकण्ठ ने अपने छपने-वाले दूसरे कविता-संग्रह के प्रूफ़ पढ़ने शुरू किये। जब कभी वह अधिक परेशान होता था, तो अपनी या किसी अन्य कवि की कविता पढ़ने और उसमें अपने-आपको भुला देने की कोशिश किया करता था। अभी वह अपने मस्तिष्क के बोझ को थोड़ा भी दूर नहीं कर पाया था कि मकान-मालिक के मुनीमजी आ टपके। कृत्रिम मुस्कुराहट से 'जय रामजी की' करके वे नीलकण्ठ की पासवाली कुर्सी पर जम गये। नीलकण्ठ ने अपना काम रोककर मुनीमजी का अभिवादन किया और पूछा—"कहिये, कैसे कष्ट किया?"

"यों ही आपके दर्शनों के लिए हाज़िर हो गया। कहिये, सब कुशल-मङ्गल तो है न?"

"सब ठीक है आपकी दुआ से। रुपये तो इसी १५ तारीख़ तक देने के लिए मैं आपसे कह चुका हूँ न?"

"हाँ, हाँ, वह तो आपका पक्का वादा है। पर मैं उसके सिलसिले में हाज़िर नहीं हुआ हूँ। मुझे सेठजी ने एक ख़ास बात कहने के लिए आपके पास भेजा है।"

"ख़ास बात? फ़रमाइये।"

"अगर आपको यह मकान ख़ाली करना हो, तो एक महीने की नोटिस देना ज़रूरी होगा, या आप जल्दी ही दूसरा मकान देख सकेंगे?"

"मैं आपका मतलब ठीक-ठीक नहीं समझा।"

"साहब, बात यह है कि इस बिल्डिङ्ग में जो और-और किरायेदार रहते हैं, वे आपके यहाँ रहने से खुश नहीं हैं। हम तो व्यापारी ठहरे। एक के लिए अन्य सब किरायेदारों को नाराज़ करके भला कैसे काम चला सकते हैं?"

"लेकिन आपने तो कहा था कि हम अकेले आदमी को मकान नहीं देते। मैं तो अपनी बहन के साथ रह रहा हूँ।"

"आप तो अपनी बहन के साथ रहते हैं, पर लोग तो ऐसा नहीं समझते।"

"लोग क्या समझते हैं?"

"अजी, अब उनकी बातों को जाने ही दीजिये। लोगों का क्या, जितने मुँह उतनी ही बातें। आप-हम किसी का मुँह तो पकड़ नहीं सकते।"

"लेकिन कुछ तो मुझे मालूम होना ही चाहिए। आख़िर लोग कहते क्या हैं?"

"साहब, अब मैं कहाँ तक आपको गिनाऊँ? कोई कहता है कि यह

इनकी विधवा बहन नहीं, कोई उड़ाई हुई लड़की है। कोई कहता है, न सिर्फ़ आपका इससे नाजायज ताल्लुक है, बल्कि आप इससे पेशा भी करवाते हैं। वक़्त-बे-वक़्त आपके यहाँ नौजवानों का आना-जाना इस सन्देह को और भी पुष्ट करता है। मेरा मतलब....."

"समझा मैं आपका मतलब !" मुनीमजी की बात काट कर नीलकण्ठ ने अपना निचला ओठ काटते हुए कहा। उसके जी में आया कि अभ' इस नर-पिशाच की छाती 'पर चढ़ बैठें और इसकी ज़बान खींच लें। किन्तु परिस्थितियों का ख़याल कर वह यह रक्त-घूँट चुपचाप पी गया।

सहसा आवेश में आकर वह खड़ा हो गया और गरजकर बोला—"लेकिन मुनीमजी, क्या आपको मालूम है कि मेरे मकान के सामने रहनेवाली वह नर्स, वह अध्यापिका और पासवाले मकानों के दोनों सरकारी बाबू रात-दिन के २४ घण्टों में क्या-क्या किया करते हैं ? मैं उनकी हरकतों से वाक़िफ़ नहीं, यह बात नहीं है; पर मैंने उनके सम्बन्ध में आपसे कभी एक शब्द भी नहीं कहा। मुझे ऐसा कहने का न कोई अधिकार था और न कोई आवश्यकता ही। पर.....ख़ैर, जाने दीजिये उन बातों को। आप अब यहाँ से तशरीफ़ ले जाइये।"

मुनीमजी ने कुर्सी से उठते हुए कहा—"अच्छी बात है। माफ़ कीजियेगा; आपको रात को बेवक़्त तकलीफ़ दी। लेकिन हाँ, तो सेठ जी से क्या कहूँ !"

"कह दीजियेगा कि अगर उन्हें अक्ल का अजीर्ण हो गया हो, तो किसी अच्छे वैद्य या हकीम से इलाज करायें।"

खीसें निपोरते हुए मुनीमजी ने कहा—"हाँ, हाँ, हाँ, तो आपको मकान ख़ाली करने में कोई एतराज़ नहीं है, यही कह दूँ न !"

सामने कोने में पड़े हुए जूतों की तरफ़ इशारा करते हुए नीलकण्ठ ने कहा—"यह आप उनसे पूछिये।"

"राम, राम, शरीफ़ होकर शरीफ़ों के लिए आप ऐसा कहते हैं !"

"जी हाँ। शराफ़त पर जब गुण्डेपन और बेहयाई का जङ्ग चढ़ जाता है, तो उसे उतारने का एकमात्र साधन यही है। ऐसी अशिष्ट बात कहते हुए मुझे हार्दिक दुःख हो रहा है, पर आप लोगों की शरारत और निर्लज्जता के सामने शायद यह अशिष्टता भी नगण्य ही हो। आप सेठजी से कह दें कि मेरे पास उनकी बात का कोई जवाब नहीं है।"

मुनीमजी सकपका कर चुपचाप वहाँ से खिसक गये।

—३—

"आज कोई चिट्ठी-विट्ठी तो नहीं आई, चन्द्रा!" घर में प्रवेश करते हुए नीलकण्ठ ने पूछा।

"हाँ, आई है। यह एक रजिस्ट्री है।" चन्द्रा ने एक लिफ़ाफ़ा नीलकण्ठ के आगे करते हुए कहा।

नीलकण्ठ ने लिफ़ाफ़ा खोला। चन्द्रा ने पूछा—"किसका पत्र है?" पर उसने कोई जवाब नहीं दिया। उसमें निकले टाइप किये हुए पत्र को नीलकण्ठ ने पढ़ा और फाड़ कर लिफ़ाफ़े-सहित एक कोने में फेंकते हुए कहा—"यों ही, कोई ख़ास बात नहीं।"

"लेकिन मैं पूछती हूँ कि पत्र है किसका?" चन्द्रा ने नीलकण्ठ के चेहरे के भावों को पढ़ने का यत्न करते हुए कहा।

"मकान-मालिक का।"

"मकान-मालिक का? क्या लिखा है?"

"वकील के द्वारा नोटिस दिलवाया है कि इस महीने की ३१ तारीख़ तक मकान ख़ाली हो जाना चाहिये, वर्ना मेरे विरुद्ध क़ानूनी कार्यवाही की जायगी। बक़ाया किराया भी अदा कर देने को लिखा है।"

"फिर क्या होगा? तुमने क्या निश्चय किया है?"

"निश्चय क्या करना है, यहीं रहेंगे।"

"सो कैसे? व्यर्थ झगड़ा बढ़ाने से फ़ायदा?"

"तो नुक़सान भी क्या है?"

"नुक़सान तो है ही। क़ानूनी कार्यवाही का अर्थ तुम मेरी अपेक्षा अधिक अच्छी तरह समझते हो। देखो भैया, मान जाओ; इस तरह ज़िद करने से कोई फ़ायदा नहीं। जब मकान-मालिक हमें नहीं रखना चाहता, तो ज़बर्दस्ती हम उसके मकान में कैसे और कितने दिन तक रह सकते हैं? वह पैसेवाला है, उससे लड़कर हम जीत कैसे सकते हैं? देखो भैया, मेरा कहा मानो; हम कहीं और मकान खोज लें। बैठे-बिठाये व्यर्थ झगड़ा मोल लेना ठीक नहीं।"

"मैं कब चाहता हूँ, चन्द्रा, कि हम जान-बूझकर ओखली में सिर दें? पर इस तरह निराधार सन्देह और मिथ्या लांछन लगाकर हमसे मकान छुड़वाना हम पर न सिर्फ़ ज़्यादती और अन्याय है, बल्कि एक नैतिक अत्याचार भी। इसे चुपचाप सहन कर लेना कापुरुषता ही नहीं, अपमान भी है।

"यह तो मैं भी जानती हूँ, पर क्या हमारी साधनहीनता हमें अन्त तक इस अन्याय का मुक़ाबला करने की क्षमता प्रदान कर सकेगी?"

"न करे, पर चन्द्रा! क्या इस मकान को छोड़ने पर हम आगे के लिए भी इस तरह के नैतिक अत्याचार से बच सकेंगे? आज यहाँ हमारे साथ जो कुछ हो रहा है, क्या वही कल दूसरा मकानवाला भी नहीं करेगा? इस तरह तो हमारा रहना और जीना मुश्किल हो जायगा। अपना घर बनवा या ख़रीद कर हम रह नहीं सकते और किराये पर फिर हमें घर कौन देगा? इस तरह तो फिर शरीफ़ों की इस दुनिया में हमारा रहना लगभग असम्भव होगा।

"हो जाय; लेकिन इस तरह ज़बर्दस्ती हम कब तक यहाँ रह सकेंगे?"

"जब तक भी सम्भव हो सके। और चारा ही क्या है?"

"अच्छी बात है। तुम जानो, तुम्हारा काम जाने। मेरी बात भला तुम क्यों मानने लगे?" यह कह कर चन्द्रा अनमनी-सी हो अपने कमरे में चली गई।

नीलकण्ठ ने कपड़े चारपाई पर डाल दिये और हाथ में पङ्खा लेकर आराम-कुर्सी पर बैठ गया। चन्द्रा को वह नाराज़ नहीं करना चाहता था, क्योंकि उसका असामयिक वैधव्य ही उसके लिए कम असह्य यन्त्रणा नहीं थी। पर मकान छोड़ने के लिए वह अपने-आपको राज़ी नहीं कर सका। वह स्वयं भी यह महसूस कर रहा था कि मकान-मालिक से झगड़ा मोल लेकर वह अच्छा नहीं कर रहा है; पर अपने पर होनेवाले नैतिक ज़ुल्म को भी वह चुपचाप पी जाने को तैयार नहीं था। इसके लिए वह बड़ी-से-बड़ी जोखिम मोल लेने को भी तैयार था। वह जानता था कि जिसके लिए वह लड़ रहा है, दुनिया और ख़ास कर चन्द्रा की नज़रों में वह नासमझी और निरा पागलपन ही है। लेकिन अगर वह चन्द्रा से सारी बातें कहता, जो लोग उन दोनों के बारे में कहते या समझते हैं, तो वह क्या ख़याल करती? उसके कानों में क्या ऐसी कोई भी बात नहीं पड़ी होगी? उन दो निर्दोष अभागों को लेकर लोगों ने न जाने क्या-क्या ताने-बाने बुन डाले थे? क्या वे नहीं जानते कि यह सब झूठ है और केवल सन्देह की दीवार पर कल्पना की कूँची से उन्होंने यह जाल बिछाया है? फिर क्यों वे इन्हें दोहराने और फैलाने में इतना रस लेते हैं? क्या यह उनकी अपनी गन्दी मनोवृत्ति का ही प्रतिबिम्ब नहीं है? पर इससे उन्हें क्या, चुहल के लिए लोगों को कोई चीज़ तो चाहिए ही।

—४—

सहसा चन्द्रा के कमरे में प्रवेश करने से नीलकंठ के विचारों की शृङ्खला टूट गई। चन्द्रा के मुख पर सहज मुस्कुराहट के बजाय आज गम्भीरता छाई हुई थी। यह देखकर नीलकण्ठ कुछ सहम गया। वह कुछ पूछे, इससे पहले ही चन्द्रा उसके पीछे आकर खड़ी हो गई और दोनों हाथ आराम-कुर्सी के ऊपर रख कर बोली—"तुमसे एक बात कहूँ भैया, बुरा तो नहीं मानोगे?"

"क्यों नहीं, बुरा मानने की बात होगी, तो ज़रूर मानूँगा। क्या तुम मेरे इस अधिकार को भी मुझसे छीन लेना चाहती हो चन्द्रा ?"

"नहीं, पर मेरी बात को इस तरह हँसी में न टालो, तब तो कुछ कहूँ।"

"हाँ, हाँ, कहो न।"

"यहाँ कोई महिला या विधवा-आश्रम तो नहीं है ?"

"क्या मतलब तुम्हारा ?"

"यों ही पूछ रही हूँ। तुम्हें मालूम है कोई ?"

"किसी ख़ास आश्रम का तो पता नहीं, पर कोई-न-कोई तो होगा ही—क्योंकि हमारे इस अभागे देश में अनाथों और विधवाओं के नाम पर अपना पेट पालनेवाले तथा सेवा और धर्म के नाम पर पाप और अधर्म की कमाई करनेवाले नराधमों की कमी थोड़े ही है। यहाँ भी कोई ऐसी दूकान ज़रूर होगी।"

"मैं पूछती हूँ कि भले घरों की विधवाओं को रखकर जीविकोपार्जन के लिए समुचित शिक्षा देने वाला कोई अच्छा आश्रम यहाँ है या नहीं ?"

"मुझे ठीक नहीं मालूम। पर आख़िर ऐसी क्या ज़रूरत आ पड़ी ? आज हठात् आश्रम का ख़याल कैसे आया तुम्हें ?"

चन्द्रा चुप रही। जो कुछ सोच कर वह आई थी, वह सब नीलकण्ठ से कहने का जैसे उसे साहस ही नहीं हो रहा था।

"चन्द्रा !" नीलकण्ठ ने पुकारा—"अरे, कहो न, क्या बात है ?"

"अच्छा, वादा करो तुम बुरा नहीं मानोगे।"

"अच्छा, वादा किया; बुरा नहीं मानूँगा।"

"मैं किसी विधवा-आश्रम में भर्ती होकर कुछ काम-धन्धा सीखना और आगे पढ़ना चाहती हूँ। सारा दिन बेकार अकेले बैठे-बैठे अच्छा नहीं लगता।"

"अच्छा, तुम ! बात तो अच्छी है चन्द्रा, बशर्ते कि इसकी तह में कोई और भावना काम न कर रही हो।"

"और भावना क्या हो सकती है ? तुम तो हमेशा बाल की खाल निकाला करते हो।"

"तो साफ़ क्यों नहीं कहतीं चन्द्रा, कि तुम मुझसे अलाहदा होना चाहती हो।"

"नहीं, नहीं, मेरा यह अभिप्राय नहीं है, भैया ! मैं सोचती हूँ कि तुम्हारा तो अधिक समय घर के बाहर ही बीतता है और मैं यहाँ दिन-भर बेकार बैठी रहती हूँ। इससे अच्छा है कि समय का कुछ सदुपयोग किया जाय।"

नीलकण्ठ एक क्षण तक कुछ न बोला। उसकी आँखें भर आईं। भर्राई हुई आवाज़ में वह बोला—"अपने बड़े भाई को धोखा देने की कोशिश न करो, चन्द्रा ! तुम अगर जाना ही चाहती हो, तो तुम्हें कोई भी शक्ति रोक नहीं सकती। मैं भला कैसे रोक सकता हूँ ? पर जाने से पहले तुम्हारे सामने जो माँ का यह चित्र टँगा है, उस पर हाथ रख कर और पिताजी की स्मृति को साक्षी देकर तुम्हें यह कहना होगा कि तुम केवल अपना भविष्य सुधारने और समय का सदुपयोग करने के लिए ही जा रही हो—किसी सन्देह या मिथ्या-भ्रम का शिकार हो कर अपने इस अभागे भाई से पिण्ड छुड़ाने के लिए नहीं।"

नीलकण्ठ ने जब अपनी बात ख़त्म की, तो वह ज़ोर-ज़ोर से हाँफ रहा था। उसकी आँखों से आँसू बह रहे थे। ओंठ काँप रहे थे। चन्द्रा यह दृश्य अधिक देर तक न देख सकी। उसकी आँखों से भी आँसुओं की झड़ी लग गई। दौड़ कर वह नीलकण्ठ के पाँवों पर गिर पड़ी और फफक-फफक कर रोने लगी। वह बहुत-कुछ कहना चाहती थी, पर उसकी ज़बान से जैसे एक शब्द भी नहीं निकल रहा था। अपनी इस असहाया-वस्था को देखकर वह और भी अधिक रोने लगी।

नीलकण्ठ ने चन्द्रा को उठाने का विफल प्रयास करते हुए कहा—"यह तुम क्या कर रही हो, चन्द्रा ! लड़कपन न करो, उठो !"

पर चन्द्रा वैसी ही उसके पाँवों पर पड़ी रोती रही। आख़िर नीलकण्ठ ने उसे उठाकर आराम-कुर्सी पर बिठा दिया और स्वयं कोट तथा टोपी लेकर बाहर जाने लगा।

चन्द्रा ने अपनी धोती के पल्ले से आँसू पोछे और जब देखा कि नीलकण्ठ बाहर जा रहा है, तो दौड़कर उसके सामने जा खड़ी हुई और उसके हाथ से कोट-टोपी छीनते हुए बोली—"कहाँ जा रहे हो, भैया ? अभी तुम्हें कहीं न जाने दूँगी। थोड़ी देर बाद चले जाना।"

नीलकण्ठ ने लड़खड़ाती हुई आवाज़ में कहा—"तुम्हारे ही काम से जा रहा हूँ, चन्द्रा; किसी महिला या विधवा-आश्रम का पता लगाने।"

चन्द्रा में अब नीलकण्ठ के सामने खड़े रहने का साहस नहीं था। वह दौड़ कर कमरे में गई और कोट-टोपी चारपाई पर डालकर उल्टी पड़ गई और तकिए में मुँह छिपा कर सिसकने लगी।

नीलकण्ठ द्वार के पास खड़ा-खड़ा कुछ सोच रहा था। उसकी आँखों से आँसू बराबर जारी थे, न मालूम वह कब तक वहाँ खड़ा रहा।

—५—

रात-भर चन्द्रा कैसी बेचैन रही, यह वही जानती है। उसे ऐसा लग रहा था कि उसने एक इतना बड़ा संकट मोल ले लिया है, जिसका बोझ उसे जीवन-भर ढोना होगा; और शायद फिर भी वह कभी ख़त्म न हो। रोने से उसकी आँखें सूज गई थीं और बिस्तरे का सिरहना भीग गया था। रात को न नीलकण्ठ ने खाना खाया और न उसने। दोनों आपस में एक दूसरे से बोले भी नहीं। रात का दूध बिना गरम किया हुआ अब तक पड़ा था। चन्द्रा को अपनी अधिक चिन्ता नहीं थी, पर नीलकंठ को भूख लगने की आशंका ने उसे चौंका दिया। वह उठी और जल्दी से चाय बनाने लगी।

चाय बन जाने पर थोड़ी देर तक वह नीलकण्ठ के उठने की प्रतीक्षा करती रही, पर जब समय काफ़ी हो गया, तो चाय और नाश्ते के लिए थोड़ी-सी मिठाई लेकर वह खुद उसके कमरे में गई। पर यह देखकर उसके आश्चर्य का ठिकाना न रहा कि नीलकण्ठ वहाँ नहीं है! उसे जैसे अपनी आँखों पर विश्वास नहीं हुआ। भय-विह्वल हरिणी की तरह आँखें फाड़-फाड़कर वह इधर-उधर देखने लगी। अकस्मात् उसकी निगाह मेज़ पर रखे हुए दो लिफ़ाफ़ों पर पड़ी। पास जाकर उसने देखा—एक पर उसका नाम लिखा था और दूसरे पर मकान-मालिक का। मिठाई की तश्तरी और चाय का प्याला जल्दी से एक तरफ़ रख दिया और अपने नाम का लिफ़ाफ़ा खोलकर उसमें रखा हुआ पत्र पढ़ने लगी। पत्र इस प्रकार था—

"चन्द्रा,

"अशेष स्नेह। तुम्हें कभी इस तरह पत्र लिखकर दुःखी और परेशान करना पड़ेगा, इसकी मैंने स्वप्न में भी कल्पना नहीं की थी; पर कल्पना से परे भी तो दुनिया में बहुत-कुछ होता है। कल के एक दिन में हमारे जीवन में भी कल्पना से परे न जाने क्या-क्या हो गया है! अगर मेरा विश्वास कर सको, चन्द्रा, तो सच मानना तुम्हें इस तरह अकेला छोड़ कर जाते हुए मुझे कितना मानसिक क्लेश और कितनी मार्मिक पीड़ा हो रही है, यह मैं ही जानता हूँ। तुम्हें छोड़ने और तुम्हारे अन्धकारमय भविष्य की कल्पना करके हृदय फटा जा रहा है। चाहता था कि सारी बातें तुमसे साफ़-साफ़ क्यों न कर लूँ—शायद भ्रम या ग़लतफ़हमी का कुहरा हमारे मनों पर से हट जाय। पर न मालूम क्यों, ऐसा करने में जैसे मैं अपने-आपको सर्वथा असमर्थ पा रहा हूँ। तुम अब भी मेरी वही सगी बहन हो, चन्द्रा, जो पहले थीं; पर आज न-जाने क्यों मुझमें पहले-जैसी स्पष्टता और निःसङ्कोच के साथ तुमसे कुछ कहने या आँख उठाकर तुम्हारी ओर देखने

का साहस नहीं है। इस कायरता और अविचार से मजबूर होकर ही आज काग़ज़ और क़लम के सहारे अपनी दुर्बलता को तुम पर प्रकट कर रहा हूँ, ताकि मैं अपनी आँखों से अपनी बातों की प्रतिक्रिया तो न देख सकूँगा।

"तुम्हें लिखने तो बैठ गया चन्द्रा, पर यह समझ में नहीं आ रहा है कि क्या लिखूँ और क्या न लिखूँ ? जिस रिश्ते से हम दोनों बँधे हैं, उसकी मर्यादा की रक्षा करते हुए तुम्हें क्या कुछ लिखा जा सकता है और क्या नहीं ? मस्तिष्क में आज एक भीषण तूफ़ान उठ रहा है। काश, तुम उसे देख और समझ पातीं, चन्द्रा ! यह तो तुम्हें मालूम ही है कि दुनियादारी से मैं कितना दूर—कहना चाहिए अपरिचित—रहा हूँ ! फिर भी न-जाने क्यों आज ऐसा लग रहा है कि बड़े भाई की गुरुता और दायित्व का विचार भावावेश और सत्य को दबाकर जैसे ऊपर उभर आया है ! जिस बात को तुम्हें कहने में मुझे सङ्कोच मालूम हो रहा था, इसका ठीक-ठीक कारण तो शायद कोई मनोविज्ञानवेत्ता ही समझ और बता सके, पर हम उसे बिल्कुल न समझ सकें ऐसी बात भी शायद नहीं है। जो-कुछ भी हो, इस समय मैं यह महसूस कर रहा हूँ, चन्द्रा, कि यदि मैंने इस सङ्कोच को सहज-बुद्धि पर विजय पाने दी, तो एक मामूली-सी ग़लतफ़हमी बहुत बड़े 'स्केण्डल' का रूप धारण कर तुम्हें यावज्जीवन अवर्णनीय यातना में घुलाती रहेगी। किन्तु बिना कोई कारण बताये तुम्हें इस तरह छोड़ कर चला जाना कितना क्रूर और अविचारपूर्ण होगा, तुम इस आघात को कैसे सह सकोगी, इसकी कल्पना करके ही यह पंक्तियाँ लिख रहा हूँ। अगर कहीं मैं अस्पष्ट जान पड़ूँ, तो यह समझ कर कि मेरे बड़े भाई की दुर्बलता ने सचाई पर विजय पाई है, तुम मुझे क्षमा कर देना। अगर कहीं मैं ज़रूरत से ज्यादा स्पष्ट हो जाऊँ, तो समझना कि सत्य की रक्षा करने के लिए मैंने कटुता और निर्लज्जता को अपना सहायक बनाया है। तुम इसे क्या कहोगी या समझोगी, मैं नहीं कह सकता; पर मैं तो इसे मजबूरी के सिवा और कुछ भी नहीं समझता।

"हममें से किसने किसे समझने में ग़लती की और क्यों हम बचपन से साथ रहनेवाले भाई-बहन एक-दूसरे से पृथक् होने की करने लगे, यह शायद काफ़ी विवादास्पद हो। बहस के झगड़े में मैं तुम्हें नहीं डालूँगा। लोगों ने हम दोनों के बारे में क्या-कुछ नहीं कहा! तुम्हें वेश्या और मुझे शोहदा बता कर भी लोगों के कलेजे ठण्ढे नहीं पड़े। हम क्या हैं, यह सिर्फ़ हमीं जानते हैं, पर दुनियावालों ने तो हमें बुरे-से-बुरे लांछनों का ही आधार बनाया। मैं तो आज तक भी समझ नहीं पाया कि आख़िर हमें न जाननेवालों को हर वक्त हमारी चिन्ता ही क्यों रहती है और हमें बदनाम करने में उन्होंने क्यों इतनी असाधारण दिलचस्पी ली? न मालूम कितनी कठिनाई से मैंने यह सब कुछ सहा और शायद आगे भी सहता। पर, जब मैंने तुम्हारे मुँह से कल आश्रम में जाने की बात सुनी, तो सहसा मुझे ऐसा लगा कि ये बातें शायद अब तुम्हारी सहनशीलता की सीमा को भी पार कर गई हैं। यह मुझे कुछ अच्छा नहीं लगा, जाने क्यों; और मेरे मन में तरह-तरह की आशंकाएँ उठने लगीं। इन्हीं आशंकाओं ने मेरे मस्तिष्क में यह बात भी पैदा की कि अब शायद हम लोग पहले की तरह साथ-साथ न रह सकें। अब तक मैं यह भूल-सा गया था कि पुरुष भले ही बड़ी-से-बड़ी बदनामी को हँसकर सह जाय, लेकिन एक निर्दोष युवती विधवा अपने सगे भाई को लेकर लगाये जानेवाले लांछनों को कैसे और कब तक सहन कर सकती है? आश्रम में जाकर रहने के रूप में तुमने इस बदनामी से मुक्ति पानी चाही, इस मिथ्या कलंक को धो देना चाहा—जो कि तुम्हारा सर्वथा उचित अधिकार था—पर मुझे ऐसा लगा कि मेरी ममता, मेरा स्नेह, मेरा अपनापन कुचले हुए साँप की तरह शायद तुम्हारे ऐसा करने के मार्ग में बाधक हुआ चाहते हैं। यह मेरी दुर्बलता है, चन्द्रा! मैं अपने-आपको तुम्हारा जीवन-भर का संरक्षक समझ बैठा था। अब भी मैं यही सोच रहा था कि तुम एक भोली बच्ची हो, जिसे

माँ, बाप और पति द्वारा निराश्रय छोड़ दिये जाने के बाद शायद एक बेकार और साधन-हीन भाई के नाम-मात्र के सहारे की किञ्चित आवश्यकता हो; इसीलिए मैं तुम्हारे पृथक् होने की बात को ठीक-ठीक समझ नहीं सका। किन्तु अब मैं महसूस कर रहा हूँ कि यह मेरी भूल थी। मेरा स्नेह और अपनापन दैत्य की तरह तुम्हारे मार्ग में बाधक हो रहे थे। मैं यह समझना भूल गया था कि मेरी तुम्हारे साथ रहने की ज़िद्द और तुम्हें आश्रम में जाने से रोकने की बात का लोग क्या अर्थ लगायेंगे। क्या वे इसे अपनी बातों का समर्थन नहीं समझेंगे ? पर तुमने यह बात मुझसे जल्दी समझ ली और उसे प्रकट भी कर दिया।

"लोगों की बातों पर मैंने कभी कोई ख़ास ध्यान नहीं दिया। हमारे निर्विकार और निर्व्याज स्नेह को वे कभी धुँधला न कर सकीं और न कर सकेंगी, इसी विश्वास के सहारे मैं ( और शायद तुम भी ) सब कुछ सहता रहा। पर चन्द्रा, जब मैंने देखा कि पिछले कुछ दिनों से तुम्हें मेरे सामने आने और आँख उठाकर मुझसे बात करने में भी एक तरह का संकोच-सा मालूम होने लगा है, तो मेरी छाती फटने-सी लगी। सगे भाई-बहन के बीच में सहसा खड़ी होनेवाली संकोच, झिझक और औपचारिकता की यह दीवार जैसे हमारे स्नेह और सोहार्द की राख का एक ढेर-सा लगने लगी। मैं स्वप्न देखने लगा कि हम दोनों के सिर पर कच्चे धागे में बँधी एक तलवार लटक रही है, जिस पर लिखा है— 'समाज का डर, दुनिया का डर, लोगों का डर, मिथ्या लांछन का डर और न मालूम किस-किसकी मर्यादा का डर !' इसने मुझे वज्र से भी अधिक आहत कर दिया। पर इतना संतोष ज़रूर है कि इससे यह अनुभव तो हासिल हुआ कि बुराई की अपेक्षा उसका डर, उसकी आशंका, उसका संदेह और उसका बनावटी वातावरण कहीं अधिक बुरा और डरावना है !

"तुम्हें अकेला और निराश्रित छोड़ते हुए मुझे तरह-तरह की आशङ्काएँ परेशान कर रही हैं। पर कल से घर के वातावरण में जो परिवर्तन नज़र आने लगा है, वह मुझे इससे भी अधिक परेशान कर रहा है। सिर्फ़ एक ही दिन में मैं बदल गया हूँ या तुम, यह तो ठीक-ठीक नहीं कहा जा सकता; पर यह निर्विवाद है कि शायद हम लोग पहले की तरह अब एक ही घर में न रह सकें। इसीलिए मैं अपनी छाती पर पत्थर रखकर तुम्हें तुम्हारे ही भाग्य के भरोसे छोड़ कर जा रहा हूँ। समझ लेना, माँ, बाप और पति की तरह तुम्हारा अभागा भाई भी नहीं रहा। जैसे बने सम्मान के साथ अपनी गुज़र-बसर करना। तुम्हें देने को मेरे पास धरा ही क्या है? तकिये के नीचे बिस्तर पर सात रुपये और कुछ पैसे पड़े हैं। अगर वे तुम्हारे कुछ काम आ सकें, तो मैं अपना अहोभाग्य समझूँगा। मकान-मालिक के नाम की चिट्ठी मुनीम जी को दे देना। उनसे कह भी देना कि जैसे भी बनेगा, मैं उनके रुपये चुका दूँगा—कुछ देर भले ही हो विलम्ब की मजबूरी के लिए क्षमा करें। उनके रुपये मारे नहीं जायँगे।

"एक बात और है, जिसे कहे बिना मैं नहीं रह सकता। अपने बारे में तुमने क्या तय किया है या करोगी, इसकी तुम्हें पूरी स्वतन्त्रता है। फिर भी अगर अपने भाई की एक बात मान सको, तो शायद वह सुख और सन्तोष से शेष जीवन बिता सकेगी। किसी आश्रम में जाने की अपेक्षा अच्छा है कि तुम किसी सत्पात्र से विवाह ही कर लो। मैं जानता हूँ कि तुम दुबारा विवाह न करने के लिए कितनी दृढ़संकल्प हो, पर हमारे आज के आश्रमों के जीवन का ख़याल करके तो सहसा कँपकँपी आ जाती है। इसलिए यह कहने की धृष्टता कर रहा हूँ। विवाह के बिना शायद तुम अपने आपको उन बुराइयों से बचा न सको, जिनमें कि तुम्हारी उम्र की विधवाओं को मजबूरन पड़ना पड़ता है या ढकेला जाता है। हमारे समाज में विवाह की ओट में जहाँ बड़े-से-बड़े पाप और नैतिक

अपराध भी क्षम्य और नगण्य हैं, वहाँ बिना विवाह के मनुष्य 'मानवता' और शराफ़त का अधिकारी भी नहीं समझा जाता। पुरुष जैसे-तैसे इस अविचार का मुक़ाबला कर भी सके, पर स्त्री—जिसे शङ्का और सन्देह के सहारे एक क्षण में देवी से पुंश्चली, पतिता तथा धर्म, समाज और जाति को रसातल पहुँचानेवाली दानवी का रूप दे दिया जाता है—तो ऐसा करने की कल्पनामात्र से निंद्य और त्याज्य हो जाती है। यदि तुम पुनर्विवाह से अपने धार्मिक भावों को आघात पहुँचने की मिथ्या धारणा को दूर कर सको, तो मेरी इस बात पर ज़रा गम्भीरता से विचार जरूर करना।

"तुम्हें शायद इस बात पर आचर्य्य हो कि स्वयं विवाह न करके मैं तुम्हें उसके लिए उपदेश या सलाह देने की विडम्बना क्यों कर रहा हूँ। पर सच मानना, तुममें और मुझमें इस दृष्टि से अन्तर है। तुम्हारे लिए विवाह का अर्थ मौजूदा स्थिति में पार्थिव चिन्ताओं की मुक्ति है—चाहे वह अच्छे और सन्तोषजनक रूप में न हो। पर मेरे लिए वही पार्थिव चिन्ताओं और अतिरिक्त दायित्व की वृद्धिमात्र है। हो सकता यह मेरी आवश्यक दायित्व से मुँह चुराने की कायरता और कमज़ोरी हो; पर मैं यह बात कभी समझ ही नहीं सका कि जो समाज हमारे वैवाहिक जीवन की आवश्यकताओं को पूरा करने की रत्ती-भर भी जिम्मेदारी लेने को तैयार नहीं, वह उसकी अनिवार्यता को शराफ़त के प्रमाण-पत्र के तौर पर ज़बर्दस्ती किसी के सिर थोपने की अनधिकार चेष्टा क्यों करता है? मानव विकास के लिए विवाह की आवश्यकता और महत्त्व को महसूस करते हुए भी मैं उसकी नृशंस अनिवार्यताओं को स्वीकार नहीं कर सकता। पर खैर इस सम्बन्ध में तुम्हें विशेष कुछ लिखना शायद असङ्गत होगा, यही समझ कर अब इस सम्बन्ध में अधिक नहीं लिख रहा हूँ। अधिक लिखूँ भी क्या? इस अप्रिय प्रसङ्ग को तो जितनी जल्दी समाप्त करूँ, अच्छा है।

तुम्हारा अभागा भैया

—नीलकण्ठ

चन्द्रा ने इस पत्र को कितनी बार पढ़ा, यह तो उसे याद नहीं रहा; पर जब अँधेरे के कारण पढ़ना मुश्किल हो गया, तो उसने इसे एक ओर रख दिया और दोनों हाथों से अपना सिर थाम कर कुछ सोचने लगी। वह अपने बारे में कुछ सोच रही थी या नीलकण्ठ के बारे में, भूत के बारे में या भविष्य के बारे में, यह कौन कह सकता है ?

# मॉडेल

—१—

अपने जीवन के कई वर्ष मुकुल ने प्राच्य और पाश्चात्य चित्रकला के सांस्कृतिक सामञ्जस्य के प्रयत्न में बिता दिये थे। पर आज भी उसे ऐसा ही महसूस हो रहा था, जैसे वह एक असम्भव—अनहोनी—चेष्टा में संलग्न है। अपने प्रयत्न में कई बार विफल होने पर भी उसने कभी हार नहीं मानी थी। वह जानता था कि कला के क्षेत्र में नया मार्ग बनाना—उसके विकास की एक नयी रेखा खींचना—कोई आसान काम नहीं है। अपने जिस स्वप्न को वह सत्य सिद्ध करने पर तुला हुआ है, शायद बहुतों ने उसकी कभी कल्पना भी न की होगी। इसी विशिष्टता से उसकी प्रेरणा को बल और उसके आत्म-विश्वास को दृढ़ता मिलती थी और बिना किसी प्रलोभन या प्रोत्साहन के वह अपने निर्दिष्ट पथ पर अनथक रूप से बढ़ा चला जा रहा था। मुकुल के जीवन का चरम लक्ष्य यही था कि भारतीय सांस्कृतिक पृष्ठभूमि पर वह विविध देशों की चित्र-कलाओं का श्रेष्ठतम सामञ्जस्यपूर्ण रूप कला-पारखियों के आगे रक्खे।

पर मुकुल के मार्ग में कठिनाइयों की भी कमी नहीं थी। यद्यपि उसकी गणना आज देश के प्रथम श्रेणी के कलाकारों में होने लगी थी फिर भी उसकी साधन-हीनता में कोई ख़ास अन्तर नहीं आया। उसके पास उसके गुरु द्वारा छोड़ी हुई चित्रशाला के सिवा और था ही क्या? वही उसका स्टूडियो था और वही उसका और उसकी एकमात्र बूढ़ी माँ का घर भी। उसके चित्रों के प्रशंसकों की कमी नहीं थी; पर कोरी प्रशंसा से, न तो उसका और न उसकी माँ का पेट ही भर सकता था और न उसे अपने काम के लिए आवश्यक सामान ही मिल सकता था। दो-एक

महीने में जब कोई चित्र बिकता, तो उसी के मूल्य से कुछ दिनों तक घर-गृहस्थी का काम चलता। इधर जब से कला-पारखियों की बुद्धि का दिवाला-सा निकल गया और लोगों में कला की श्रेष्ठतम कृतियों को सस्ते से सस्ते मूल्य में पाने की प्रवृत्ति घर करने लगी, तब से मुकुल का उत्साह भी ठण्डा पड़ने लगा। वह जैसे पंगु होने लगा।

श्रेष्ठ कलाकार के ऊँचे आसन पर बैठे मुकुल के सामने कभी-कभी उसके पूर्व जीवन का वह दृश्य नाच उठता था, जब कि वह बग़ल में कुछ रङ्गीन पेन्सिलों, ब्रशों, कूचियों तथा विविध रङ्गों का बक्स और स्केल दबाये साइन-बोर्ड लिखता-फिरता था। दिन-भर में वह दस-बारह आने तक कमा लेता था और इसी से माँ-बेटा, दोनों का पेट भर जाता था। तब न उसके दिमाग़ में कल्पना के ये ऊँचे-ऊँचे महल थे और न संसार का एक श्रेष्ठ कलाकर बनने का हौसला ही। पर एक दिन नगर के श्रेष्ठ कलाकार प्रबोध बाबू को उसकी कोई डिज़ाइन बेहद पसन्द आ गई और वे उसे अपने साथ कुछ सिखाने के उद्देश्य से अपनी चित्रशाला में ले आये। कुछ ही महीनों बाद प्रबोध बाबू तो अपनी प्रतिभा के कुछ असाधारण नमूने और अपनी एकमात्र सम्पत्ति 'प्रबोध चित्रशाला' धरोहर के रूप में मुकुल को सौंप कर इस संसार से कूच कर गये, पर मुकुल की कीर्त्ति को इस अल्प काल में ही वे चार चाँद लगा गये। आज मुकुल की प्रतिष्ठा और कीर्त्ति के सामने लोग प्रबोध बाबू को भूल-से गये हैं और देश के कलाकारों में मुकुल का अपना एक विशिष्ट स्थान है।

एक दिन संयोगवश मुकुल की मुलाकात एक विदेशी चित्रकार से हो गई, जो विविध देशों की चित्रकला का अध्ययन करने के विचार से विश्व-भ्रमण करने निकला था। उसके एल्बम में जर्मन, फ्रान्सीसी, स्पेनिश, पुर्त्तगीज़, पोलिश, स्वेडिश, रशन और जापानी चित्रकलाओं के आधुनिकतम नमूने देख कर मुकुल को ऐसा महसूस हुआ, मानो

वह अभी तक इस दुरूह कला की पहली सीढ़ी पर भी नहीं पहुँच पाया है। यह सब देख कर मुकुल के स्वाभिमान को जैसे एक गहरी ठेस-सी लगी।

इसी समय एक और घटना घटी, जिसने मुकुल के जीवन की धारा ही जैसे बदल दी। विदेशी चित्रकार ने मुकुल से भारतीय जीवन के कुछ ऐसे चित्र देखने की इच्छा प्रकट की, जिनमें जीवन की भाषा अधिकाधिक स्पष्ट रूप में व्यक्त हुई हो। मुकुल ने अपनी समझ और पहुँच के अनुसार अच्छे से अच्छे चित्र उसे दिखाये; पर उसको सन्तोष नहीं हुआ। किञ्चित व्यंग्य के साथ उसने कहा—"आप लोग कल्पना का इतना अधिक सहारा लेते हैं कि जीवन की वास्तविकता उसके बोझ से दब कर गौण और धुँधली हो जाती है। इससे कला का स्तर तो किसी मानी में अवश्य ऊँचा उठता है, पर उतने ही आप वास्तविक जीवन से दूर भी होते चले जाते हैं। हमारे यूरोप में ऐसी कला सर्वसाधारण को आकर्षित नहीं कर पाती।"

मुकुल एक क्षण के लिए जैसे निरुत्तर हो गया। विदेशी चित्रकार के शब्दों में सचमुच उसे आत्म-निरीक्षण के लिए कुछ सामग्री मिल गई थी। उसे याद आया—जीवन की सच्ची अभिव्यक्ति ही तो कला की यथार्थ साधना और उसकी सुस्पष्ट भाषा है। पर मुकुल वास्तविक जीवन से कितना दूर था? और शायद इसीलिए कला की सच्ची साधना से भी वह अभी तक बहुत-कुछ अपरिचित था। कल्पना कला को रूप दे सकती है, रङ्ग दे सकती है, जीवन नहीं! जीवन की अभिव्यक्ति उसकी धारा से पृथक् रह कर नहीं की जा सकती। कल्पना की आँखें ऊपर आकाश में अपने साधन खोजती हैं, जब कि जीवन उसकी चरण-धूलि में खेलता रहता है।

विदेशी चित्रकार से विदा ले कर मुकुल घर आया। पर अब अपने काम से उसका जी उचट-सा गया मालूम होता था। वह गहरे विचार-

मन्थन में पड़ गया। आज जैसे जीवन की एक नयी दिशा उसका आवाहन कर रही थी। जीवन और कला—कला और जीवन उसके सामने एक प्रश्न-सूचक चिह्न के रूप में उपस्थित थे।

—२—

न मालूम-कितने दिनों से बेकार पड़े स्टूडियो में आज सफ़ाई होते देख कर मुकुल की माँ के आश्चर्य और प्रसन्नता का ठिकाना नहीं रहा। उसकी मरी हुई आशा आज अकस्मात् जैसे फिर जी उठी थी। चारपाई पर गुमसुम पड़ा रहने वाला मुकुल आज गुनगुनाता हुआ स्टूडियो में इधर से उधर घूम-घूम कर अपनी चीजें फिर सलीक़े से सजा कर रख रहा था। निराशा, क्षोभ और उदासी से म्लान उसका चेहरा आज जैसे एक नयी आशा और मुस्कुराहट से दिपदिपा रहा था। इस परिवर्त्तन को देख कर उसकी माँ ने आँखों द्वारा अपने प्राणों में आज वह मातृ-सुलभ ललक भर ली थी, जो किसी भी वृद्धा में नयी जीवन-शक्ति फूँक सकती है।

थोड़ी देर बाद—काम काज से ज़रा फ़ुरसत मिलने पर—जब मुकुल की माँ ने मुकुल को ज़रा ऊँचे स्वर से बोलते सुन कर उसके स्टूडियो में झाँका, तो जैसे उसकी एकदम कायापलट-सी हो चुकी थी। चित्रशाला की उत्तरी दीवार पर जङ्गल के दृश्य वाला एक पर्दा टँगा था, और उससे कोई एक-डेढ़ हाथ हट कर पत्थर के एक बड़े टुकड़े पर एक गौराङ्ग युवती कुछ तिरछी खड़ी थी। उसके वक्ष पर एक छपा हुआ पतला-सा हरा कपड़ा बँधा था और कमर में मृगछाला लिपटी थी। उसके बालों में रङ्ग-बिरङ्गे फूल गुँथे थे। एक हाथ में उसके भाला था और दूसरे में किसी पशु के पैर की अगली हड्डी। इससे कोई आठ-दस हाथ की दूरी पर लकड़ी के तीन पायों पर एक फ्रेम रक्खा हुआ था, जिस पर पीतल की कीलों-द्वारा एक बड़ा-सा काग़ज़ टाँका गया था। बाईं ओर एक छोटी-सी मेज़ पड़ी थी, जिस पर चित्राङ्कन का सारा सामान फैला

हुआ पड़ा था। इसी मेज़ और फ्रेम के बीच में अपनी कमीज़ की दोनों आस्तीनें चढ़ाये मुकुल खड़ा था। इस समय उसके हाथ में एक पतली-सी कूँची थी। कभी वह फ्रेम पर तैयार होने वाले चित्र की ओर देखता था और कभी तिपाई पर खड़ी हुई युवती की ओर। युवती इस समय भूचेप के साथ मुस्कराने की आकृति में थी।

यकायक मौन भङ्ग करते हुए मुकुल ने कहा—"ज़रा कम मुस्कराइए, इतना नहीं।"

युवती ने वैसा ही करने की चेष्टा की। मुकुल ने एक क्षण उसकी ओर देखा। फिर उसके चेहरे का भाव ज़रा बदला। अपने हाथ की कूँची उसने मेज़ पर रख दी और अपने दोनों हाथ पीछे करके तिपाई पर खड़ी हुई युवती की ओर बढ़ते हुए बोला—"आप मुझे क्षमा करेंगी मिस फॉक्स, आपसे मेरा काम चलना मुश्किल है।"

"क्यों? क्या मैं आपकी हिदायतों के मुताबिक़ काम नहीं कर रही हूँ?"—ज़रा दबी जबान से मिस फॉक्स ने पूछा।

"अपनी तरफ़ से आप कोशिश पूरी-पूरी करती हैं, फिर भी यदि सफलता नहीं मिलती, तो इसमें आपका क्या दोष? सच पूछिए, तो दोष इसमें मेरा ही है, कि एक वन-कन्या के चित्रण का मॉडेल मैंने नागरिक जीवन के श्रेष्ठ उदाहरण में से चुना। आप वैसी हो भी कैसे सकती हैं।"

"तो क्या काम चलाने की कोई भी सूरत नहीं है?"

"शायद नहीं। अपनी शक्ति-भर मैंने आपको हर बात बच्चों की तरह कई-कई बार प्रेम से और डरा-धमका कर भी सिखाई-समझाई; लेकिन फिर भी आप अपने भाव में स्वाभाविकता नहीं ला पाईं। हाँ, अभिनय आप सुन्दर कर सकती हैं, किन्तु उसकी चित्र-कला में गुञ्जाइश कहाँ? वह तो मञ्च की चीज़ है।"

"खैर, तब तो फिर कोई चारा ही नहीं।"—कहती हुई मिस फॉक्स

तिपाई से नीचे उतर आई और अपने कपड़े बदलने को पास ही की कोठरी में चली गई ?

शिथिल गात और विफल मनोरथ हो मुकुल आरामकुर्सी पर बैठ कर मन ही मन कुछ सोचने लगा। कई दिनों पहले वाला विचार-मन्थन आज फिर जैसे उसका मस्तिष्क भारी कर रहा था। पर कोई मार्ग उसे ढूँढ़े नहीं मिल रहा था और इसीलिए वह किसी निर्णय पर नहीं पहुँच पाया था।

इसी समय मिस फॉक्स के बाहर आने पर वह खड़ा हो गया और अपनी पतलून की जेब में से दस-दस रुपए के पाँच नोट निकाल कर उसके सामने करते हुए बोला—"यह आपका मेहनताना। लेकिन इसे दे कर मैं आपके उस एहसान से उऋण नहीं हो जाता हूँ, जो आपने मुझ पर किया है। आशा है, आप मुझे भूलेंगी नहीं और वक्त-जरूरत याद करेंगी।"

"इस कृपा के लिए आपको बहुत-बहुत धन्यवाद !"—कह कर मिस फॉक्स ने किंचित् मुस्कुराहट के साथ नोटों को ले लिया और आँखों ही से उन्हें गिन कर कहा—"लेकिन मुझे भय है, आप कहीं भूल तो नहीं कर रहे ? मैंने काम तो सिर्फ़ तीन दिन ही किया है, और मेहनताना आप पूरे एक महीने का दे रहे हैं।"

"हाँ, मगर उसे पाने का आपका अधिकार भी तो है। कण्ट्रैक्ट तो मेरी तरफ़ से तोड़ा गया है, फिर आर्थिक दण्ड आप पर क्यों पड़े ? अच्छा आपकी कृपा के लिए बहुत-बहुत धन्यवाद।"

मिस फॉक्स ने नोटों को अपने बैग में रक्खा और मुकुल से हाथ मिला कर विदा ली।

नशे से चूर आदमी जैसे किसी सहारे के लिए लड़खड़ाता हुआ हाथ बढ़ाता है, उसी तरह मुकुल आरामकुर्सी की ओर बढ़ा और धम्म से उस पर बैठ गया। कुर्सी की जीर्णता मुकुल की मजबूरियों के बोझ से जैसे

एक बारगी मुखरित हो उठी—यद्यपि मुकुल का ध्यान उस ओर नहीं गया। निर्निमेष दृष्टि से वह बराबर सामने देखता और न जाने क्या-क्या सोचता रहा। उसकी माँ कितनी बार आ कर कभी अनुनय-विनय के साथ और कभी खीज कर—खाना खाने के लिए उससे कह गई। उसे इसका तनिक भी ध्यान नहीं रहा। उसकी तन्द्रा उस समय भङ्ग हुई जब उसने देखा, कि उसकी माँ दूसरे वक्त के खाने की व्यवस्था कर रही है और सूर्य अस्त होने जा रहा है। एक लम्बी अँगड़ाई ले कर वह कुर्सी से उठा और बिना माँ से कुछ कहे बाहर चला गया।

—३—

सभा समाप्त होते ही मुकुल कालेज के मुख्य द्वार के बाहर आकर खड़ा हो गया। शीघ्र ही उधर से दो-दो, तीन-तीन अथवा चार-चार की टोलियों में छात्राएँ, छात्र और अध्यापक बाहर निकलने लगे। कुछ ही क्षण बाद दो अन्य लड़कियों के साथ वह लड़की भी निकली, जिसे मुकुल सभा के आरम्भ होने से उसकी समाप्ति तक बड़े गौर से देख रहा था। उसका वर्ण एकदम शुभ्र था और अङ्ग-प्रत्यङ्ग जैसे साँचे में ढले थे। शरीर पर गहरे कत्थई रंग की काली गोटवाली साड़ी थी और हल्के पीले साटन का ब्लाउज़। गोल बाहों वाले उसके गोरे हाथ कन्धों से कलाई तक खुले थे। बाएँ हाथ की कलाई पर काले फ़ीते से बँधी एक छोटी-सी सुनहरी घड़ी चमचमा रही थी और दाहिने हाथ में एक सोफि-याने रंग का बेग लटक रहा था। बाल उसके कुछ कटे-छँटे और पश्चिमी ढंग पर सँवारे हुए थे।

उसके बाहर आते ही मुकुल अपना सारा साहस बटोर कर उसके सामने गया और संकोच-जनित फीकी मुस्कुराहट के साथ दोनों हाथ जोड़ कर बोला—"नमस्कार प्रतिभा देवी।"

तीनों लड़कियाँ सहसा रुक गईं। प्रतिभा को तो इस अपरिचित युवक के नमस्कार से इतना आश्चर्य और असमञ्जस हो रहा था कि वह

मुकुल के अभिवादन का जवाब भी नहीं दे सकी और एकटक उसकी ओर देखती रही। उसे हतप्रभ होते देख, मुकुल ने ही इस धर्म-संकट से उबारने के लिए उसकी सहायता करने के उद्देश्य से कहा—"मेरा नाम मुकुल है। आपसे कुछ निवेदन करना चाहता हूँ।"

एक हल्की-सी सिहरन के साथ, भौंहों में बल डालते हुए, प्रतिभा देवी ने कुछ रूखी-सी आवाज़ में कहा—"कहिए!" और अपना बैग इस तरह ऊपर उठाया जैसे उससे अपनी आत्म-रक्षा करना चाहती हों।

प्रतिभा की दोनों सहेलियों की ओर बारी-बारी से देख कर मुकुल ने प्रतिभा के प्रश्न और संशय-भरे नेत्रों की ओर देखा और बड़ी विनय के साथ कहा—"इनके सामने नहीं, आपसे अकेले में कुछ कहना चाहता हूँ।"

मुकुल के इन शब्दों से प्रतिभा का चेहरा जैसे और भी फीका पड़ गया। उसकी दोनों सहेलियों ने एक अर्थ और व्यंग्यपूर्ण हल्की मुस्कुराहट के साथ पहले प्रतिभा की ओर और फिर मुकुल की ओर तिरछी नज़र से देखा और आँखों ही आँखों में कुछ इशारा कर आगे बढ़ने लगीं।

प्रतिभा शायद अपनी सहेलियों की दृष्टि का भाव ताड़ गई थी। इसीलिए उसके चेहरे का फीकापन एक ही क्षण में क्रोध की ललाई में बदल गया था। क्षुब्ध दृष्टि से मुकुल को नीचे से ऊपर तक बड़े गौर से देखते हुए उसने कहा—"शर्म नहीं आती आपको, भले घर की लड़कियों को इस तरह छेड़ते हुए? शराफ़त तो आपसे कोसों दूर मालूम होती है।"

प्रतिभा की एक सहेली ने मुड़ कर मुकुल को सम्बोधित करते हुए बड़े व्यंग्यपूर्वक कहा—"हमारे हाथों में सिर्फ चूड़ियाँ ही नहीं हैं। इन ऊँची एँड़ी वाले सेण्डिलों से आप जैसे न मालूम कितने मजनुओं के दिमाग हम दुरुस्त कर चुकी हैं।"

दूसरी सहेली ने, जो मुँह से रूमाल लगाये शायद अपनी हँसी

रोकने का प्रयत्न कर रही थी, ज़रा मुँह बना कर कहा—"इन हज़रत की अभी कहीं मरम्मत नहीं हुई जान पड़ती है! ज़रा इन शोहदों का साहस तो देखो।"

प्रतिभा के चेहरे पर एक क्रोध-मिश्रित व्यंग्यपूर्ण मुस्कुराहट फैल गई। विजय-गर्व से अपनी गर्दन ज़रा टेढ़ी कर के उसने मुकुल पर एक दया-पूर्ण दृष्टि डाली और तेज़ी से क़दम बढ़ाती हुई अपनी सहेलियों के साथ सड़क के बाएँ किनारे पर खड़ी हुई बस में जा बैठी। मुकुल की ओर देख कर तीनों ठहाका मार कर ज़ोर से हँस पड़ीं। मुकुल को ऐसा लगा, मानो किसी ने जले पर नमक छिड़क दिया हो।

हतप्रभ, म्लान-मुख मुकुल किंकर्त्तव्य-विमूढ़-सा ज्यों का त्यों वहीं खड़ा रहा। बस कब चली गई, उसे नहीं मालूम! सभा-भवन के लोग एक-एक कर कब उसके सामने से निकल गए, उसे नहीं मालूम। वहाँ खड़ा-खड़ा वह अकेला इस समय न मालूम क्या सोच रहा था? अभी-अभी उसकी आँखों के सामने हुए चन्द मिनटों के अभिनय ने जैसे उसके जीवन का एक नया अध्याय खोल कर रख दिया था। दुनियाँ को समझने और दुनियाँदारी में मुकुल अभी कितना अबोध है, यह उसे आज ही मालूम हुआ। उसके कानों में अभी तक प्रतिभा का वह वाक्य गूँज रहा था—'शराफ़त तो आपसे कोसों दूर मालूम होती है!' रह-रह कर उसे ख्याल आने लगा, उसने प्रतिभा से यह क्यों नहीं पूछ लिया, कि क्या शराफ़त सौंदर्य और लक्ष्मी के लाड़लों की ही बपौती है? वह क्या अच्छी पोशाक और गोरी चमड़ी वालों को ही विरासत में मिलती है? पर···

इसी समय सहसा जीर्ण-शीर्ण वस्त्रों में लिपटी अठारह-बीस वर्ष की एक भिखारिन ने आकर मुकुल का ध्यान भङ्ग किया। अपनी गोद के एक दुधमुँहे बच्चे को ऊपर उठा कर उसका मुँह खोल कर दिखाते हुए वह कह रही थी—"बाबू, एक पैसा, बच्चे को दूध पिलाना है, तीन दिन से भूखा है, बाबू!"

"नहीं, पैसा वैसा कुछ नहीं मिलेगा, जाओ। पैसा है ख़ूबसूरतों और शरीफ़ों के पास; उन्हीं से जाकर माँगो।"—कह कर मुकुल ने बड़ी झुँझलाहट के साथ दूसरी ओर बढ़ने के लिए क़दम उठाया।

भिखारिन भी उधर ही को मुड़ गई और जैसे मुकुल का रास्ता रोकते हुए बड़े करुण-स्वर में बोली—"बाबू, मेरा सिर्फ़ एक ही पैसे का सवाल है। मैं तो चार दिन और भूखी रह सकती हूँ, पर मेरा यह लाल..... तीन दिन से एक बूँद भी दूध इसके मुँह में नहीं पड़ा है।"

इस बार मुकुल की भिखारिन से चार आँखें हो गईं। उसके पाँव अनायास आगे बढ़ने से रुक गए। भिखारिन की आँखों की सजल भाषा ने मुकुल को जैसे सब कुछ समझा दिया था। उसका हाथ जेब की ओर उठा और उसमें से पाँच रुपयों का एक नोट निकाल कर उसने भिखारिन को दे दिया और बिना कुछ कहे आगे बढ़ गया।

—४—

न मालूम, क्या सोच कर मुकुल ने भिखारिन का नाम वासन्ती रख दिया और उसे अपने नये चित्र के मॉडेल के रूप में काम करने को राज़ी कर लिया। अब उसने भिक्षावृत्ति छोड़ दी है। उसके और उसके बच्चे के भोजन-छाजन की व्यवस्था मुकुल ही करता है, और उसी के घर पर वह रहने भी लगी है।

मुकुल की माँ ने अपने अविवाहित पुत्र-द्वारा एक युवा भिखारिन के अपने यहाँ रक्खे जाने का भरसक विरोध किया, पर मुकुल के हठी स्वभाव के आगे उसकी एक न चली और लाचार हो कर उसने मुकुल से बोलना तक छोड़ दिया। अपना खाना वह अलग बनाने लगी और मुकुल का वासन्ती।

मुकुल के घर की इस नाटकीय व्यवस्था पर किसको क्या और क्यों आपत्ति थी, यह कहना तो कठिन है; पर इतना सत्य है, कि वह न केवल पास-पड़ोस की, बल्कि समूचे नगर की चर्चा का एक कौतूहलपूर्ण

विषय बन गई थी। लगभग सभी सभ्य और साधारण क्षेत्रों में आज मुकुल सन्देह की दृष्टि से देखा जाने लगा था। कल तक जो लोग मुकुल की कला की प्रशंसा करते नहीं थकते थे, वे ही आज उसकी ओर व्यंग्य-पूर्वक उँगली उठाते थे। ऐसे लोगों के लिए मुकुल कलाकार न रह कर, अब एक ऐसा पशु बन गया, जो किसी भी गन्दगी में मुँह डाल सकता था। मुकुल अपनी इस विरुदावली को सुन कर भी जैसे अनसुनी कर जाता था। उसका दिल साफ़ था और वह समझता था, कि साफ़ दिल पर कलङ्क की स्याही नहीं लग सकती। फिर वह दूसरों से डरे क्यों?

पर इतना मुकुल भी महसूस करने लगा था, कि वासन्ती उसके नये चित्र 'भिखारिणी' की केवल मॉडेल ही नहीं है, कुछ और भी है। उसमें मॉडेल की यान्त्रिकता के अलावा जीवन की वास्तविकता को छूने-उकसाने वाला एक सत्य भी है, जो कभी-कभी स्वतः ऊपर उभर आता है और मुकुल की आँखों द्वारा उसके हृदय तक पहुँच जाता है। कई बार वासन्ती की ओर एक-टक देखते समय मुकुल जैसे स्वप्नों के किसी इन्द्रजाल में फँस जाता और कुछ देर बाद जब उसे वास्तविक वस्तुस्थिति का भान होता, तो जैसे स्वप्न से जग कर वह मन ही मन कहता—नहीं, यह सब कुछ नहीं। मेरे सामने केवल एक मॉडेल है, और कुछ नहीं, कुछ भी नहीं—बस एक मॉडेल, जिसके आधार पर मुझे अपना आगामी चित्र 'भिखारिणी' तैयार करना है।

इसीलिए कभी-कभी अपने ऐन्द्रजालिक स्वप्नों से छूट भागने के लिए वह वासन्ती पर अकारण अथवा अनावश्यक रूप से झल्ला भी उठता था। ऐसा करने में उसका उद्देश्य वासन्ती को तङ्ग करना या उसका जी दुखाना न हो कर, अपने आपको एक सङ्कट से उबारना-मात्र होता था। वासन्ती यदि नियत समय से एक मिनिट भी देर करके स्टूडियो में पहुँचती, तो वह उस पर खीझ उठता। काम में यदि वह कभी थोड़ी भी लापरवाही दिखाती, तो मुकुल कूँची फेंक कर अपनी कुर्सी पर आ कर

बैठ जाता, और उस दिन का काम प्रायः स्थगित ही रहता। फिर वासन्ती की लाख अनुनय-विनय भी मुकुल को मनाने में सफल नहीं हो पातीं।

एक दिन की बात तो शायद दोनों कभी जीवन भर भी नहीं भूलेंगे। वासन्ती जब मॉडेल के रूप में आ कर खड़ी हुई, तो मुकुल ने देखा, न जाने क्यों आज वह ज़रूरत से ज़्यादा ख़ुश था। उसके होंठ जैसे उसकी हँसी की बाढ़ को रोक नहीं पा रहे थे। मुकुल की मुद्रा को असाधारण रूप से गम्भीर देख कर वासन्ती से न रहा गया। वह ज़ोर से खिलखिला कर हँस पड़ी। फिर हाथ जोड़ कर बोली—"अच्छा, आज मुझे इस ग़लती के लिए माफ़ कर दो। अब नहीं हँसूँगी। अगर अब हँसूँ, तो....."

"वासन्ती !" कड़क कर मुकुल ने उसका वाक्य पूरा होने से पहले ही कहा—"यह सब क्या हो रहा है ? देखता हूँ, आजकल तुम्हारा काम में जी नहीं लग रहा है। हरदम का यह हँसी-ठट्ठा मुझे पसन्द नहीं। कल तुम टुकड़े-टुकड़े के लिए मोहताज थीं और आज रानियों वाली यह बेफ़िक्री और अल्हड़पन ! लेकिन मेरे चित्र का काम....."

वासन्ती को जैसे साँप सूँघ गया हो। उसकी आँखें भर आईं, और चेहरे पर हवाइयाँ उड़ने लगीं। आज पहली बार उसने मुकुल को इस रौद्र-मुद्रा में देखा था और उसे देख कर वह इतनी डर गई थी, कि शायद जीवन में पहले कभी भी न डरी हो। आज उसका एक भ्रम जैसे दूर हो गया था।

धीरे-धीरे क़दम बढ़ाते हुए उसके पास पहुँच कर मुकुल ने कहा—"इसमें बुरा मानने की बात नहीं है, वासन्ती ! तुम जानती हो, कि मैंने तुम्हें अपने आगामी चित्र 'भिखारिणी' के लिए मॉडिल चुना है। पर पहले दिन तुम्हारे चेहरे पर जो करुणा और निरीहता मैंने देखी थी और जिससे मुझे तुम्हारा चित्र बनाने की प्रेरणा मिली थी, वह अब एकदम

तिरोहित हो गई जान पड़ती है। परन्तु इसमें तुम्हारा नहीं, परिस्थितियों का ही दोष है और उनमें ऐसा परिवर्तन उपस्थित करने की ज़िम्मेदारी सर्वथा मेरी है। फिर भी क्या तुम्हारे चेहरे पर मैं वही मूक वेदना, विवशता और करुणा नहीं देख सकता, जो मेरे इस चित्र को जीवन दे सकती है और जिसके बिना मेरे अब तक के सारे परिश्रम पर पानी फिर जायगा।"

वासन्ती कुछ नहीं बोली। कुछ क्षण उसके उत्तर की प्रतीक्षा करने के बाद मुकुल ने कहा—"तब फिर इस चित्र का काम यहीं पर ख़त्म कर देना बेहतर होगा!"

"नहीं!"—वासन्ती के होंठ हिले—"मैं कह जो रही हूँ, कि अब फिर ऐसी ग़लती नहीं होगी। आज से आपको मेरी मुद्रा में वही पहले की-सी करुणा और निरीहता मिलेगी पर केवल एक शर्त है—आपको मुझे फिर से भीख माँगने जाने देना होगा और केवल काम के समय ही मैं यहाँ रहूँगी।"

मुकुल एकबारगी जैसे हतबुद्धि और निरुत्तर हो गया। आज उसे महसूस हुआ, कि तीर और शब्द निकलने के बाद लौटाए नहीं जा सकते! उनका प्रभाव किसी भी तरह रोका नहीं जा सकता।

इसके बाद उसने वासन्ती के चेहरे पर फिर कभी मुस्कुराहट नहीं देखी। वह फिर जैसे भिखारिन का वास्तविक मॉडल ही बन गई थी। उसकी यह साधना चित्र के सम्पूर्ण होने तक जारी रही।

—५—

पत्र-प्रतिनिधियों को विदा कर मुकुल ने स्टूडियो के द्वार भीतर से बन्द कर लिये और लौट कर अपनी कुर्सी पर आ बैठा। आज उसकी अपार प्रसन्नता को जैसे वासन्ती की अनुपस्थिति बरबस कम कर रही थी। न केवल अपने स्टूडियो में, बल्कि अपने अन्तर में भी आज वह

एक अवर्णनीय अभाव का अनुभव कर रहा था। चित्र की सफलता वासन्ती के चले जाने पर जैसे आज मुकुल के जीवन की सबसे बड़ी विफलता बन गई थी।

इसी समय मुकुल की माँ ने आ कर किञ्चित् विस्मय और कौतूहल से पूछा—"क्यों रे, आज ये इतने आदमी यहाँ क्यों आ-जा रहे हैं? क्या अनोखी बात हुई ऐसी?"

"बात तो कोई ऐसी ख़ास नहीं हुई, माँ!"—मुकुल ने अपनी उदासीनता के छिपाने का यत्न करते हुए फीकी मुस्कुराहट के साथ कहा—"अन्तर्राष्ट्रीय प्रदर्शनी ने मेरे 'भिखारिणी' नामक चित्र को पुरस्कृत किया है। आज के पत्रों में प्रकाशित उसी के समाचार को पढ़ कर लोग मुझे बधाइयाँ देने चले आ रहे हैं।"

"सच!"—आह्लाद से विह्वल हो मुकुल की माँ ने कहा और आगे बढ़ कर मुकुल का ललाट चूम लिया। उसे छाती से लगाते हुए उसने कहा—"मेरे लाल की हज़ार उम्र हो! मैं तो पहले ही कह न रही थी, कि तेरा परिश्रम बेकार कभी नहीं जा सकता।"

"लेकिन माँ!"—मुकुल ने ज़रा गम्भीर हो कर कहा—"काश, आज वासन्ती यहाँ होती, और अपनी सफलता का यह सुसंवाद सुनती! इस चित्र की सफलता का सारा श्रेय दरअसल तो उसी को है। इसे सजीव बनाने के लिए उसे कम साधना नहीं करनी पड़ी है। पर मैं क्या उसके प्रति कम क्रूर या कठोर रहा?"

"आख़िर वह गई कहाँ होगी रे, एक न एक दिन तो लौटेगी ही।"

"नहीं, अब वह नहीं लौटेगी, माँ! मेरा मन कह रहा है, अब वह नहीं लौटेगी। मेरी और अपनी सम्मान-रक्षा के लिए तुमने उससे उस दिन जो कुछ कहा था, उसके बाद अब उसके लौटने की आशा नहीं। मैंने शहर का कोना-कोना छान मारा है, कहीं पर भी उसका या उसके

बच्चे का कोई सुराग़ नहीं मिला। अब शायद वह नहीं मिले, नहीं लौटे। पर.....!"

इसी समय किसी ने दरवाज़े पर दस्तक दी। धड़कते हुए हृदय से जा कर मुकुल ने द्वार खोला। देखा, सामने बहुमूल्य वस्त्रों और कुछ हल्के क़ीमती आभूषणों से सुसज्जित प्रतिभा बैग लिये खड़ी है। दोनों हाथ जोड़ कर मुकुल को अभिवादन करते हुए प्रतिभा ने कहा—"नमस्कार, मुकुल बाबू! कहिए, प्रसन्न तो हैं न?"

"नमस्कार, प्रतिभा देवी!"—यन्त्रवत मुकुल के होंठ हिले और फिर तनिक बनावटी मुस्कुराहट के साथ उसने कहा—"हम ग़रीबों की प्रसन्नता क्या? आप कहिए, मज़े में तो हैं न? आज इधर कैसे रास्ता भूल गईं? अच्छा, भीतर तो आइए।"

"रास्ता तो ख़ैर नहीं भूली"—मुकुल के पीछे-पीछे आते हुए प्रतिभा ने कहा—"आपको बधाई देने आई हूँ और उसके बदले में कुछ लेने भी।"

"उसके बदले में कुछ लेने?"—मुकुल ने ज़रा भौंहें चढ़ा कर कहा—"मैं आपका मतलब समझा नहीं।"

मुकुल के इशारा करने पर प्रतिभा एक कुर्सी पर बैठ गई और पास वाली कुर्सी पर मुकुल भी बैठ गया। प्रतिभा ने ज़रा सङ्कोच से मुकुल की ओर आँखें उठाते हुए कहा—"मैं तो यहाँ आने में बड़ी झिझक और डर रही थी।"

"इसलिए न, कि आप एक ऐसे आदमी के पास जा रही हैं, जिससे शराफ़त कोसों दूर है, या जो सूरत-शक्ल से ही शोहदा मालूम होता है। यही न?"

"बस, बस, जाने दीजिए, उस नासमझी को दोहरा कर आप मुझे और लज्जित न कीजिए। मेरे जीवन की वह एक बड़ी भयङ्कर भूल थी। क्या आप उसके लिए मुझे क्षमा नहीं करेंगे?"

"ये आप कैसी बहकी बातें कर रही हैं, प्रतिभा देवी ? कैसी नासमझी और कैसी भूल ? आपने जो कुछ किया वह ठीक ही तो था।"

"उसको जाने भी दीजिए। मुझे और काँटों में न घसीटिए ! अच्छा बतलाइए, आपने मुझे उसके लिए क्षमा किया या नहीं ?"

"क्षमा की उसमें ऐसी कौन-सी बात है, प्रतिभा देवी ?"

"अच्छा, तो उस बात को अब जाने दीजिए। आज मैं एक चीज़ लेने आई हूँ और उसे ले कर ही जाना है।"

"जब इतना कठोर आपका निश्चय है, तो यह घर आप ही का है, जो चाहें शौक़ से ले जाइए।"

"इस तरह नहीं, मैं ख़ुशी से आपसे 'भिखारिणी' नामक चित्र लेने आई हूँ। आप उसका मुँह माँगा दाम ले सकते हैं।"—यह कह कर प्रतिभा ने अपने बैग में से चेक-बुक निकाली और उसे मुकुल की ओर बढ़ाते हुए बोली—"लीजिए, आप इसमें से जितने का चाहें चेक भर लें, मैं दस्तख़त किये देती हूँ।"

"क्षमा कीजिएगा, प्रतिभा देवी !"—मुकुल ने ज़रा गम्भीर हो कर कहा—"पैसे से दुनिया में हर चीज़ नहीं ख़रीदी जा सकती।"

"आपका मतलब ?" प्रतिभा ने ज़रा कुण्ठित हो कर पूछा।

"मतलब यही, कि वह चित्र आपको किसी भी मूल्य पर नहीं मिलेगा !"

"आख़िर, यह क्यों ?"

"इसीलिए, कि उस पर अब मेरा कोई अधिकार नहीं है।"

"आपका अधिकार उस पर नहीं है ? यह आप क्या कह रहे हैं ?"

"ठीक ही कह रहा हूँ।"

"तब फिर उस पर किसका अधिकार है ?"

"वासन्ती का—उस भिखारिन का, जो उसकी मॉडेल थी।"

"वासन्ती—मॉडेल ! लेकिन इस समय वह कहाँ है ?"

"पता नहीं।"

"पता नहीं! और चित्र?"

"चित्र अभी प्रदर्शनी से लौटा नहीं है।"

"हूँ! अजीब पहेली-सी मालूम होती है।"

मुकुल ने कोई उत्तर नहीं दिया। प्रतिभा ने अपने आपको कुछ अपमानित-सा महसूस कर चेक-बुक वापस बैग में रख ली।

# अर्थी के आँसू

जब सब लोग चले गये, तो प्रतिभा ने दबे पाँव माँ के कमरे में प्रवेश किया और इधर-उधर देखकर धीरे से बोली—"माँ आखिर मेरी शादी को लेकर तुम लोग इतने परेशान क्यों हो ? क्या सचमुच मैं इतनी भारी हो गई हूँ तुम सब के लिए...? अगर ऐसा ही है तो कुठौर फेंकने से कहीं ज्यादा अच्छा तो यही है कि मुझे किसी नदी-कुएँ में ही ढकेल दो, पाप कटेगा।"

माँ ने अन्यमनस्क भाव से, पर एक फीकी मुस्कुराहट के साथ, प्रतिभा को खींचकर अपने गले से लगा लिया और उसके सिर पर हाथ फेरते हुए बोली—"तू तो सचमुच बड़ी भोली है, बेटी। अरे, लड़कियाँ तो पराया धन हैं ही। बड़ी होने के बाद भला उन्हें कोई अपने पास रखता है ?"

"हाँ, तो मैं कब कहती हूँ कि तुम मुझे अपने पास ही रखो।" रुँधे हुए गले से प्रतिभा ने कहा—"कह जो रही हूँ कि किसी नदी-कुएँ में धक्का न दे दो, सब आफत मिट जायगी।"

इस बार माँ ने प्रतिभा को अपने गले से हटा कर सामने खड़ा किया और उसकी आँखों में आँखें डालकर बोली—"पागल मत बन, प्रतिभा। मैंने कभी तेरी इच्छा के खिलाफ कुछ काम किया या तुझ से कभी कुछ करवाया है ? क्या कभी भी तेरे साथ मैंने कोई दुर्व्यवहार किया है ? फिर तेरी इस तानेजनी और इन आँसुओं का मतलब ?"

एक सिसकी भर कर प्रतिभा ने आँखें झुका लीं और भर्राई हुई आवाज में बोली—"मतलब तुम सब जानती हो माँ।"

तनिक झल्ला कर माँ ने कहा—"भई तुमसे तो पेश आना भी मुश्किल

है। तुझे मालूम नहीं, तेरे पिताजी ने कितने दिनों से खाने-पीने और सोने-आराम करने का खयाल छोड़, रात-दिन एक कर के तेरे लिए इतना अच्छा घर-वर ढूँढ़ा है। क्या इसे तू कुठौर ही समझती है ?"

"मैं कुछ नहीं समझती"—तनिक आवेश में आकर प्रतिभा ने कहा—"केवल यह समझती हूँ कि मैं अभी शादी नहीं करना चाहती। मैं अभी कुछ दिन और पढ़ना चाहती हूँ।"

"शादी नहीं करना चाहती ! आगे पढ़ना चाहती हूँ !!"—माँ ने जरा ताने के साथ कहा—"यह कहना बड़ा आसान है, बेटीजी। पर क्या तुम्हें आटे-दाल का भाव मालूम है ? क्या तुझे मालूम है कि इस महँगाई के जमाने में घर-गृहस्थी चलाना कितना कठिन हो गया है ?"

"तो साफ-साफ यों कहो कि तुम मेरी आगे की पढ़ाई का खर्च नहीं देना चाहतीं।"—प्रतिभा ने तीखे स्वर में कहा।

"प्रतिभा, तुम पढ़ी-लिखी हो, बेटी। मेरे मुँह से क्या-क्या कहलवाओगी ? तुम जानती हो कि तुम्हारे दोनों भाइयों का दूध बन्द कर दिया गया है। तुम्हारी शादी के लिए तुम्हारे पिताजी ने जो २-३ हजार रुपया बैंक में जमा किया था, महँगाई ने उसे भी पचा लिया। इन दिनों में कभी गौर से उनका चेहरा देखा है तुमने ? चिन्ता और उदासी की झुर्रियाँ क्या कभी तुम्हें नहीं दिखाई दीं उनके चेहरे पर ? हाय भगवान् !"

"छिः छिः"—कहते हुए प्रतिभा के पिता ने कमरे में प्रवेश कर कहा—"यह क्या झगड़ा मोल ले बैठीं तुम माँ-बेटी ? मेरे चेहरे की झुर्रियों से और प्रतिभा से भला क्या मतलब ? क्या आदमी कभी बूढ़ा नहीं होता ?" और फिर हँस कर बोले—"प्रतिभा की माँ, तुम्हारी तरह मैं भला हमेशा जवान थोड़े ही बना रहूँगा !"

प्रतिभा की माँ जरा लजा गई। प्रतिभा ने धोती के छोर से आँसू पोंछे और कमरा से बाहर जाने लगी; पिता ने द्वार की ओर बढ़कर प्रतिभा का रास्ता रोकते हुए कहा—"जरा रुको, प्रतिभा। मैं तुम्हीं से कुछ

बात करने आया हूँ। तुम मन खराब न करो बेटी, मैंने गौरीशंकर और उसके बड़े भाई से खूब जोर देकर और खोलकर कह दिया है कि वे तुम्हारी आगे पढ़ने की इच्छा पूरी करेंगे और इस दिशा में कोई अड़चन पैदा नहीं करेंगे। बोलो अब तो तुम्हें कोई आपत्ति नहीं ?"

प्रतिभा कुछ नहीं बोली। उसकी आँखें नीचे ही झुकी रहीं। पिता ने फिर कहना शुरू किया—"खर्चे का ही सवाल नहीं है, बेटी। तुम अब सयानी हो गई हो। लोग पूछते हैं कि अभी तक प्रतिभा की शादी क्यों नहीं की ? पता नहीं, इन्हें दूसरों की शादी में इतनी दिलचस्पी क्यों है ?"

"अच्छी ही तो बात है"—प्रतिभा ने धीमी आवाज में कहा—"आप लोगों को खुश-संतुष्ट करके, अपनी मान-प्रतिष्ठा की रक्षा कीजिए। इसमें भला मुझे क्या आपत्ति हो सकती है ?"—यह कहकर प्रतिभा कमरे से बाहर चली गई।

पिता ने कुछ चिंतित-सी मुद्रा में प्रतिभा की माँ की ओर देखा और निराश स्वर में बोले—"हाय रे भाग्य ! अपनी ही सन्तान के मुँह से क्या ऐसी बातें सुनना ही हमारे भाग्य में बदा था ?"

"तुम अपना मन खराब मत करो"—प्रतिभा की माँ ने आश्वस्त स्वर में कहा—"आजकल का जमाना ही ऐसा है। पता नहीं पढ़-लिख कर ये लड़कियाँ क्या करेंगी ?"

प्रतिभा के पिता ने एक गहरी ठण्डी साँस ली और धीरे-धीरे कमरे से बाहर चले गए।

—२—

"बहू क्या कहती या चाहती है, इससे मुझे कोई सरोकार नहीं"—गौरीशंकर के बड़े भाई ने कहा—"पर मैं यह पूछता हूँ कि तेरे भी तो अक्ल है, तेरा मन क्या कहता है ?"

"भैया"—गौरीशंकर ने नम्रतापूर्वक कहा—"होगा तो वही, जो आप

और माता जी आज्ञा देंगे, पर मैं समझता हूँ कि अगर उसे पढ़ने-लिखने की सुविधा दी जाय तो इसमें हर्ज ही क्या है ?"

"हर्ज ही क्या है ?"—आँखें मटका कर बड़े भाई ने कहा—"नई-नई बहू मिली है, इसी से तू उस पर लट्टू है। पर कान खोल कर सुन ले—अगर तूने उसे दबा कर नहीं रखा, ज्यादा पढ़ाया-लिखाया और आजादी दी, तो याद रख, एक दिन तुझे पछताना पड़ेगा और खानदान के नाम पर जो बट्टा लगेगा, वह अलग से !"

गौरीशंकर अभी नई उम्र और कच्चे ज्ञान का युवक था। बड़े भाई की चेतावनी की गहराई को शायद भली-भाँति समझ तो नहीं पाया, पर इतना उसे जरूर महसूस हुआ कि उसका कुछ अर्थ जरूर है। हतप्रभ-सा वह चुपचाप वहाँ से अपने कमरे की ओर चला।

कमरे से बाहर पाँव रखते ही उसने देखा कि प्रतिभा चौखट के सहारे खड़ी सारी बातें सुन रही थी। उसके बाहर आते ही बिना कुछ बोले ही वह भी उसके आगे-आगे कमरे की ओर चल पड़ी।

कमरे में पहुँच कर प्रतिभा दाहिनी ओर की दीवार का सहारा लेकर खड़ी हो गई और शून्य दृष्टि से छत की ओर अपलक निहारने लगी। गौरीशंकर ने पास आकर कहा—"तुमने भाई साहब का फैसला सुन लिया।"

"सुन लिया"—उसी प्रकार छत की ओर देखते हुए प्रतिभा ने कहा।

गौरीशंकर चुप हो गया। क्या कहे, कुछ समझ में नहीं आ रहा था। प्रतिभा ने फिर कहना शुरू किया—"माँ के मुँह से, पिताजी के मुँह से, जेठजी के मुँह से; और शायद तुम्हारे मुँह से अभी सुनना बाकी है—एक ही बात निकलती है। लड़की को ज्यादा पढ़ाना अच्छा नहीं। पढ़-लिखकर वह हाथ से निकल जायगी !! उफ, कितने संकीर्ण और अदूरदर्शी हो तुम लोग ! जो स्वयं सुशिक्षित नहीं, जिनके अपने मानस और चरित्र का विकास नहीं हुआ, वे इसके सिवा भला सोच ही क्या सकते हैं।"

और फिर पास खड़े गौरीशंकर की ओर मुख़ातिब होकर प्रतिभा ने ज़रा आवेश के स्वर में कहा—"मैं जानती हूँ, तुम लोग क्यों मुझे आगे पढ़ने नहीं देना चाहते। पैसे का प्रश्न उतना नहीं है, जितना तुम्हारी सड़ी-गली मान्यताओं, कुसंस्कारों और अन्धपरम्पराओं का। तुम सोचते होगे कि घर की चहारदीवारी में बन्द स्त्री पाँव की अच्छी जूती, आज्ञाकारी बाँदी और उन झूठे आदर्शों की रक्षा करने वाली निरीह बहू बनी रहेगी, जो आज नारी-स्वातन्त्र्य के मार्ग में सबसे बड़ी बाधा है। पर मिस्टर गौरी-शंकर, प्रतिभा उस मिट्टी की बनी नहीं है, जो इन बाधाओं से ही रुक जाय।"

प्रतिभा के दीप्त नेत्रों और उग्र मुख-मुद्रा को देख तथा उसका दृढ़ स्थिर स्वर सुन जैसे गौरीशंकर को अपनी आँख-कान पर विश्वास नहीं हो रहा था। विनय और संकोच की लाजवन्ती-सी प्रतिमूर्त्ति प्रतिभा के मुँह से आज वह यह सब क्या सुन रहा था? प्रतिभा क्या बदल गई थी, या यही उसका असली रूप है, जो अभी तक परिस्थिति-वश ढँका-मुँदा था। अभी वह यह सब सोच ही रहा था कि प्रतिभा ने फिर कहना शुरू किया—"क्यों आप भी किसी सोच में पड़ गए क्या? माँ और भाई के स्नेह ने आपके मन-मस्तिष्क पर गुलामी और परावलम्बन का बहुत गहरा रंग चढ़ा दिया मालूम होता है। उनसे अलग आपका कोई अस्तित्व है, यह शायद आप सोच ही नहीं सकते। फिर उनसे अलग होकर अपने पाँवों पर खड़े होने की बात तो अभी बहुत दूर की है! माँ और भाई की पराधीनता ने आपके आत्मविश्वास और स्वावलम्बन की प्रेरणा को जैसे मार ही दिया है। पर मैं उम्र भर अपमान और पराधीनता के टुकड़ों पर पलने और आँसू बहाने यहाँ नहीं आई हूँ। पशु की तरह पेट भरने से कुछ परे भी जीवन का अर्थ है। देश और समाज के प्रति भी तो हमारा कुछ कर्त्तव्य है।"

गौरीशंकर आँखें फाड़ कर प्रतिभा की ओर एकटक देख और यह

सब सुन रहा था। उसे ऐसा लग रहा था मानो कोई सुधारवादी फिल्म देख रहा हो। उसके मुँह से केवल एक ही बात निकली—"तो तुम मेरी और भाई साहब की इच्छा के विरुद्ध चलोगी ?"

"निःसन्देह"—सहज भाव से प्रतिभा ने कहा—"यह कोई बुरा काम तो है नहीं। फिर मैं तभी ऐसा करूँगी जब कि मैं अपना खर्च भी निकाल सकूँ। अगर मुझे आगे पढ़ना ही है, तो मैं व्यर्थ आप लोगों पर उसका बोझ क्यों डालूँ ?"

"इसका मतलब हुआ कि तुम कहीं कुछ काम भी करोगी।"

"हाँ, मतलब तो यह साफ है।"

"तो यह बात है !—कहते हुए गौरीशंकर कमरे में इधर-उधर टहलने लगा। प्रतिभा कुतूहल-निश्चित मुद्रा से उसके चेहरे के भावों को पढ़ने की चेष्टा करने लगी।"

—३—

उस दिन जब प्रतिभा लौटी, तो गौरीशंकर आ चुका था। कपड़े उतार कर वह पंखे के नीचे सुस्ता रहा था। मेज पर किताबें रख प्रतिभा जल्दी से उसके पास आ गई और सहज भाव से बोली—"आज मुझे आने में देर हो गई। बुरा तो नहीं मान गए ?"

'मैं बुरा मानने वाला होता ही कौन हूँ ?"—गौरीशंकर ने उदासीनता दिखाते हुए कहा—"भला अब हमारी किसे परवाह है ?"

"लो, फिर लगे न फालतू बातें करने। आज प्रोफेसर साहब ने फिर वही समानाधिकार का मसला छेड़ दिया। इस सम्बन्ध में बातें करते हुए मुझे तो समय का ध्यान ही नहीं रहा। कितने अच्छे आदमी हैं वे ! उनसे बातें करने में समय का ख्याल ही नहीं रहता।"

"क्यों प्रतिभा, प्रोफेसर तुम को बहुत पसन्द हैं—याने बहुत अच्छे लगते हैं ?"

"हाँ, अच्छे लगने लायक आदमी ही हैं वे।"

"मुझसे भी अधिक अच्छे लगते हैं तुम्हें वे?"

गौरीशंकर के पास आ और उसकी आँखों में घूरते हुए प्रतिभा ने जरा कड़े स्वर में पूछा—"क्या मतलब है तुम्हारा इस सवाल से? तुम मेरी परीक्षा लेना चाहते हो या अपने मन का चोर बाहर निकाल रहे हो? छिः कितने संकीर्ण-हृदय हो तुम?"

गौरीशंकर कुछ सकपका गया। फिर तनिक गम्भीर होकर बोला—"प्रतिभा, तुम्हारे मुँह से रोज-रोज प्रोफेसर की प्रशंसा सुनते-सुनते मेरे तो कान पक गए। अगर प्रोफेसर तुम्हें बहुत पसन्द हैं, तो....."

"खबरदार जो मुँह से कोई बेजा बात निकाली तो'—बीच में ही ठीक कर प्रतिभा ने दर्पपूर्वक कहा—"तुम अपनी जगह हो, प्रोफेसर अपनी। मेरा तुम से जो सम्बन्ध है और मेरे मन में तुम्हारे लिए जो स्थान है, उसकी महत्ता और पवित्रता से मैं बखूबी वाकिफ हूँ। पर प्रोफेसर मेरे आदर और श्रद्धा के प्रतीक हैं। आज के युग में ऐसे सच्चे सत्पुरुष कहाँ मिलते हैं? उनके विशाल उज्ज्वल व्यक्तित्व की छाया में मानो शत-सहस्र वट-वृक्षों की-सी शीतलता और शान्ति मिलती है।"

"बस, बस, यह बकवास बन्द करो"—गौरीशंकर ने तुनक कर कहा—"शर्म नहीं आती तुम्हें पति के सामने पर-पुरुष की इतनी प्रशंसा करते? क्या इतने पर भी तुम अस्लियत पर पर्दा डाल सकती हो?"

"नहीं, शर्म की इसमें बात नहीं। मैं उन मूढ़ा, अज्ञ स्त्रियों में नहीं हूँ, जिनके लिए अकेला पति ही परमेश्वर है और शेष सब पत्थर की निर्जीव मूर्त्तियाँ। तुम्हारा और मेरा एक सांसारिक सम्बन्ध है, जो मन-मस्तिष्क से अधिक शरीर का है। पर मेरे मन और मस्तिष्क में आदर और श्रद्धा का प्रतीक बनी ऐसी कई मूर्त्तियाँ हैं, जो मेरी आराध्य हैं। प्रोफेसर भी उनमें से एक हैं।"

"तो तुम उन्हीं के पास क्यों नहीं चली जाती?"—झल्लाकर कुर्सी

पर से उठते हुए गौरीशंकर ने कहा—"मेरी छाती पर मूँग दलने और रोज उसकी तारीफों के पुल बाँध कर मेरा खून जलाने में तुम्हें क्या मजा आता है ?"

प्रतिभा सन्न रह गई। उसका सारा शरीर रोमांचित हो उठा। उसे अपनी आँखों और कानों पर जैसे विश्वास नहीं हो रहा था। चित्र-खचित-सी उसकी आँखें गौरीशंकर की ओर खुली की खुली रह गईं। पुरुष का मन—नहीं, नहीं, पति का मन—कितना ओछा और संशयालु हो सकता है, उसे आज मानो नग्न रूप में दिखाई दिया। पर उसके जी को जलाना ही गौरीशंकर का उद्देश्य न था, उस पर नमक डालना भी अभीष्ट था। सो दरवाजे के पास रुक कर गौरीशंकर ने कहा—"अहा, क्या त्रिया-चरित्र की माया सीखी है तुमने ? ऐसे देख रही हो, मानों तुम्हें कुछ पता ही नहीं ! मैं कोई मिट्टी का माधव नहीं हूँ, प्रतिभा। तुम मुझे जितना बुद्धू और भोला समझती हो, मैं उतना तो शायद नहीं हूँ। बहुत दिनों से पास-पड़ोस में तुम्हारे इस नये 'रोमांस' की चर्चा है। माँ और भाई साहब तो इतने परेशान हैं कि मुझसे बात तक करना छोड़ दिया है। ज्यादा पढ़-लिख कर तुम यह करोगी, इसका मुझे स्वप्न में भी गुमान न था। आज हम लोग किसी के सामने आँख उठा कर देख भी नहीं सकते।"

प्रतिभा जैसे नींद से जागी। अश्वस्त स्वर में उसने कहा—"ओह, तो बड़े दिनों से अपने दिल में जमा हुआ गुबार निकाल रहे हो आज। पहले तो तुमने कभी ऐसी आशंका प्रकट नहीं की ! फिर इतने दिन तक साथ रह कर भी तुमने मुझे नहीं पहचाना और मुझसे अधिक उन लोगों पर विश्वास किया, जो नारी-स्वातन्त्र्य को फूटी आँखों भी देख नहीं सकते; जिन्हें दूसरों को बदनाम करने में ही मजा आता है। पर खैर, जब बात यहाँ तक पहुँच चुकी है तो तुम्हें जिस तरह भी विश्वास हो, इस बात के सच-झूठ का निर्णय कर लो। पर यह पहले बता दो कि इस बात के सच

निकलने पर तो तुम जो चाहो, मुझे सजा दे सकते हो; लेकिन अगर यह बात झूठ, निराधार और कपोल-कल्पित साबित हुई, तो तुम क्या प्रायश्चित्त करोगे ? जानते हो, यह झूठा लांछन लगा कर तुमने मेरे मन में अपना रहा-सहा स्थान भी खो दिया है। पति तो क्या, इन्सान के रूप में भी तुम मेरी नजरों से गिर चुके हो। बुजदिल, नीच कहीं का।"

"ज़बान बन्द कर, प्रतिभा",—गौरीशंकर ने डपट के स्वर में कहा—"नहीं तो अच्छा न होगा। हर बात की एक सीमा होती है। मैं तुझे इससे अधिक अपना अपमान नहीं करने दूँगा।"

"अपमान !"—मुँह बिरा कर प्रतिभा ने कहा—"तुम जैसों का कोई आत्म-सम्मान है, जो अपमान होगा। नीच, कुत्ते कहीं के !"

"देख, जबान सम्भाल..."—दाँत पीस कर गौरीशंकर चिल्लाया।

—४—

प्रोफेसर ज्योतिरिन्द्र बसु एकाकी जीव थे। जिस प्रकार किसी विशाल पर्वत को किसी एक ओर से देख कर उसके सम्पूर्ण रूप का अन्दाज लगाना कठिन है उसी प्रकार उनके सम्पूर्ण व्यक्तित्व की जानकारी भी कठिन थी। अपने बारे में वे कभी किसी से कुछ कहते ही न थे। विवाह उन्होंने क्यों नहीं किया और विश्वविद्यालय से मिलने वाला सारा वेतन निर्धन छात्र-छात्राओं में बाँट कर वे अपनी गुजर-बसर कैसे करते थे, इस बारे में लाख पूछने पर भी उन्होंने कभी कुछ नहीं बताया। पर नीरस वे बिल्कुल नहीं थे और जरा-सा उनके हृदय में प्रवेश पा जाने पर तो न सिर्फ ज्ञान का अपूर्व खजाना ही हाथ लग जाता था, बल्कि एक ऐसे उज्ज्वल व्यक्तित्व के दर्शन भी होते थे, जो आज के मानव-समाज में दुर्लभ ही समझिये। उनके व्यक्तित्व के पारस-स्पर्श से न जाने कितने व्यक्ति सुवर्ण बन चुके थे।

संकट के समय इन्हीं के वरद हस्त ने प्रतिभा की रक्षा और सहायता की। प्रोफेसर के रूप में उसे गुरु ही नहीं, एक अगाध स्नेहशील पिता

भी मिला और वह बिलकुल भूल ही गई कि प्रोफेसर उसके असली पिता नहीं हैं। प्रोफेसर ने भी प्रतिभा में मानो साक्षात् प्रतिभा के दर्शन किये। परिस्थितियाँ, बाधाएँ, अभाव आदि जैसे उसे रोक ही नहीं पाते थे। कभी-कभी प्रतिभा के मुँह से नारी के पीड़न-शोषण की बातें सुन कर प्रोफेसर रोने लगते थे। प्रतिभा से उन्होंने यह प्रतिज्ञा करवा ली थी कि पढ़-लिख कर वह केवल जीविकोपार्जन ही नहीं करेगी, बल्कि अपनी पीड़ित-ताड़ित बहनों के उद्धार के लिए भी कुछ करेगी। इसीलिए पढ़ाई के बाद और कभी-कभी पहले या बीच में भी नारी-पीड़न के संवादों की चर्चा दोनों बड़ी हार्दिक भावना के साथ किया करते थे।

आज प्रोफेसर बार-बार घड़ी देख कर मन-ही-मन कह रहे थे कि पता नहीं, प्रतिभा अभी तक क्यों नहीं आई। अधीर होकर वे कमरे में टहलने लगे। फिर खिड़की से देखा, तो गौरीशंकर के मकान के आगे कुछ लोग जमा देखे। उनकी कुछ समझ में न आया। दो-एक मिनट कुछ सोचने के बाद वे चप्पल पहन कर उस ओर चल दिये।

घर के बाहर गौरीशंकर को दौड़-धूप करते देख वे और शशपंज में पड़े। उसके पास जाकर वे कुछ पूछना ही चाह रहे थे कि गौरीशंकर ने आँखों में आँसू भर अभिनय के पूरे कौशल के साथ कहा—"प्रोफेसर साहब, मैं तो लुट गया! मेरा सर्वस्व छिन गया! किसी तरह मुझे सहारा दीजिए। बल दीजिए कि मैं इस आघात को सहन कर सकूँ।"

"पर माजरा क्या है? मेरी तो कुछ समझ में नहीं आ रहा है।"—प्रोफेसर ने कहा।

"ओह, आपको सूचना भिजवाना तो भूल ही गया था। कल रात को हृदय की गति बन्द हो जाने से अचानक प्रतिभा का देहावसान हो गया। मेरी तो जान ही निकल गई, प्रोफेसर साहब। अब मैं क्या करूँ? मेरा क्या होगा?"

प्रोफेसर को जैसे काठ मार गया। एक क्षण वे सन्न रह गये। फिर

गौरीशंकर की ओर देख कर पूछा—"हार्ट फेल ! आपको ठीक मालूम है हार्ट फेल ही हुआ है ?"

"जी हाँ, जी हाँ"—कहकर गौरीशंकर ने इधर-उधर देखा और फिर विनीत स्वर में बोला—"आप से फिर बातें करूँगा। अब जरा अर्थी को उठवाने की जल्दी करनी है, वर्ना फिर धूप चढ़ आयेगी।"

प्रोफेसर कुछ कहें, इससे पहले ही गौरीशंकर उन्हें आशंकाओं और दुश्चिन्ताओं के भँवर में छोड़ कर घर के भीतर चला गया।

थोड़ी देर बाद अर्थी उठाई गई और चार आदमियों के कन्धों पर उसे श्मशान की ओर ले जाया जाने लगा। प्रोफेसर ने कन्धा देना चाहा, पर उनके दुर्बल स्वास्थ्य को देखकर उनसे वैसा न करने का अनुरोध किया गया। वे मान गए और चुपचाप अर्थी से कुछ कदम पीछे उसके साथ-साथ हो लिये।

कुछ तो अपने स्वभाव के कारण और कुछ गमी के कारण प्रोफेसर नीचे जमीन की ओर ही देखते हुए चल रहे थे। एक जगह उन्हें सड़क पर खून की एक बूँद दिखाई दी। परन्तु इस समय उसके बारे में सोचने की उनको मनोदशा कहाँ थी ? पर शीघ्र ही दूसरी, फिर तीसरी, फिर चौथी, फिर पाँचवीं...इस प्रकार खून की बूँदों की एक कतार-सी दिखाई दी। एक क्षण के लिए प्रोफेसर किसी सोच में पड़े, फिर न जाने क्या सोचकर आस-पास के लोगों को हटा कर वे अर्थी के बिल्कुल निकट पहुँच गये और गर्दन झुका कर उसके निचले भाग को देखने लगे। बीच का हिस्सा कुछ अधिक नीचे झुका-सा दिखाई पड़ रहा था और उस स्थान से कोरे कपड़े में से छन-छन कर चन्द लमहों के अन्तर से खून की बूँदें टपक रही थीं। प्रोफेसर की आँखों के आगे अँधेरा छा गया और वे वहीं गिरते-गिरते बचे। उनके पाँव लड़खड़ाते देखकर एक व्यक्ति ने कहा—

"आपकी तबीयत ठीक नहीं है प्रोफेसर साहब, आप श्मशान चलने की तकलीफ न करें। चलिये, आप को घर पहुँचा देते हैं।"

उस आदमी की सहायता से प्रोफेसर घर आये और बैठक में रखे सोफे पर लंबे पड़ रहे। पता नहीं कब तक वे इस अवस्था में वहाँ पड़े रहे।

× × ×

दूसरे दिन सुबह भंगी ने आकर बताया कि प्रतिभा की हत्या करने के अभियोग में गौरीशंकर, उसका बड़ा भाई और माँ गिरफ्तार कर लिये गये हैं। लाश डाक्टरी परीक्षा के लिए भेजी गई है। सुना है कि लाश की पसली की दोनों हड्डियाँ टूटी हुई हैं।

# राजीव

—१—

दूध से सफ़ेद गद्दे पर लेटे-लेटे किलकारियाँ मारने और हाथ-पाँव चला-चलाकर खेलनेवाले सुन्दर और तन्दुरुस्त बच्चे को माँ ने हसरत-भरी निगाहों से जी भर कर देखा। पर इतने से उसका मन न भरा। उसने उसे गोद में उठा लिया और उसके दोनों गालों पर अपने अमर वात्सल्य की छाप लगाते हुए कहा—"मेरा राजा बेटा, इसके लिए गुलाब-सी सुन्दर बहू लाऊँगी एक दिन!"

बच्चा सहमा। माँ की आँखों में आँखें डाल कर वह देखने और कुछ समझने की कोशिश करने लगा। पर अभी उसमें इतनी समझ ही कहाँ थी, जो इन बातों का भाव और मर्म समझ सकता! और जब एक दिन उसमें समझ आई, तो माँ ने अनायास उसका 'राजा' और बहू का 'गुलाब-सी' विशेषण हटा लिये; ताकि उसकी समझ कहीं सचमुच इन शब्दों को पकड़ न ले। बिना मुल्क की यह नवाबी और बिना चेहरे की यह गुलाब-सी बहू बचपन में ही शोभा देती हैं। नासमझी, दिल बहलाने और बड़ा बनने की कल्पना करने का एक बड़ा सहल असर है। पर वह सिर्फ़ चन्द दिनों के लिए ही होता है।

और जब राजीव बड़ा हुआ, माँ बचपन की बातें भूल चुकी थी। आख़िर एक दिन उसने स्वयं अपने लिए एक गुलाब-सी सुन्दर बहू ढूँढ़ निकाली। जो शरणार्थी परिवार उनके यहाँ आकर टिका था, उसकी लड़की लच्छो को पकड़ कर एक दिन राजीव अपनी माँ के पास ले गया और बोला—"माँ, याद है न, तुम बचपन में कहती थीं कि मेरे लिए

एक गुलाब-सी सुन्दर बहू लाओगी ? यह लो, मैं ही ढूँढ़ लाया हूँ उसे, तुम्हें अब तकलीफ़ नहीं करनी पड़ेगी।"

माँ को यह सुन कर खुशी नहीं हुई। पर उस लड़की के सामने वे क्या कहतीं ? उसे अपने माँ-बाप के पास जाने को कह कर वे राजीव को भीतर ले गईं और दाँत पीस कर बोलीं—"गधे कहीं के, कुछ घर की इज़्ज़त का भी ख्याल है तुझे ? जानता है वे किस जात के हैं ? और अपने मुहँ से ही करने लगा अपनी शादी की बातें ! शर्म नहीं आती तुझे ?"

"नहीं माँ, मुझे तो इसमें शर्म की कोई बात नहीं लगती," राजीव ने सहजभाव से किन्तु दृढ़तापूर्वक कहा—"लच्छो की माँ को जब मैंने रोकर अपने पति से लच्छो के हाथ पीले करने के लिए बिनती करते देखा, तो मेरा मन पसीज गया। मैंने लच्छो से पूछा। उसने कहा कि वह मुझ से शादी करने को तैयार है। तब मैंने उसके माँ-बाप से कह दिया कि मैं उससे शादी कर लूँगा और आप लोगों को कानी कौड़ी भी ख़र्च नहीं करनी पड़ेगी।"

"हाय राम !" आँखें फाड़ कर माँ ने कहा—"माँ-बाप के रहते हुए तू ख़ुद कौन होता है रे शादी तय करने वाला ? आखिर इतने दिन पाल-पोस कर जो बड़ा किया, सो क्या इसीलिए ?"

"नहीं, वह भला क्यों ? मेरी बोटी-बोटी और मन-प्राण बेचकर उसकी कीमत वसूल करो !" एक तीखे व्यंग्य-भरे स्वर में कह कर राजीव ठहाका मार कर हँस पड़ा।

और रात को जब राजीव आँसुओं से अपना तकिया भिगो रहा था, उसके कानों में माँ का स्वर पड़ा—"तुम्हें तो देखने तक की फ़ुर्सत नहीं और तुम्हारा वह लड़ैता उन बेचारे शरणार्थियों की लड़की पर डोरे डालने लगा है। बेचारे पति-पत्नी दोनों आज दिन भर रोते रहे। कहते थे,

आपके लड़के की हरकतें हमें पसन्द नहीं। लड़की किसी तरह लुटेरों से बची, तो यहाँ आते ही अब यह……"

अँधेरे में ही रोते-रोते राजीव ने क्रोध में अपना निचला होंट काट लिया। फिर सुना पिता जी का स्वर—"तुम्हारी भी क्या उल्टी समझ है। अब बेचारे लड़के का क्या दोष इसमें ? उस आदमी और औरत ने जब देखा कि हमारे पास ज़मीन-जायदाद है, तो सोचा होगा कि चलो, लड़की के ज़रिये ही उल्लू फँसावें। यह बदला लिया है इन शरीफ़ों ने शरण देने का !"

"जो भी हो, तुमने बैठे-बिठाये पता नहीं क्यों यह आफ़त अपने सिर ली। ये लोग तो जैसे अब जाने का नाम ही नहीं लेते। आख़िर और शरणार्थी भी तो कैम्पों में रहते हैं। इन्हें वहाँ रहते क्या मौत आती है ? और वह लड़की तो……बाप रे ! जहर की पुड़िया ही है। और है भी कम्बख़्त कितनी ख़ूबसूरत। ऐसों को नज़र भी तो नहीं लगती।"

क्षोभ और ग्लानि से राजीव पसीने-पसीने हो गया। ये हैं उसके माँ और बाप !

इसी समय उसे अपने कमरे में किसी के सिसकने का स्वर सुनाई दिया। उसने अँधेरे में आँखें बिछा दीं। रोते हुए लच्छो से आगे बढ़ कर कहा—"राजीव मुझे माफ़ करना। ग़लत न समझना मुझे। मैं तुम्हें मन-प्राण से चाहती हूँ। पर हमारे प्रेम और जीवन से भी ज़्यादा प्यारी है मुझे अपने माँ-बाप की इज़्ज़त। यह सच है कि सब कुछ खो कर आज हम दर-दर के भिखारी बने हुए हैं; पर ग़ैरत और आत्माभिमान अभी तक हमने नहीं खोये हैं। उन्हें खो कर ज़िन्दा रहनेवाले हम नहीं। अच्छा अलविदा !"

यह 'अलविदा' उसके मुँह पर जैसे एक ज़ोर के तमाचे-सी लगी और वह अपने आपको सँभाले और कुछ कहे, इसके पहले ही लच्छो

वहाँ से चली गई थी। राजीव ने दोनों हाथों से कस कर अपना सिर पकड़ लिया—मानो इस अँधेरे में लच्छो के प्रस्थान के रूप में उसके प्राण ही देह से बिदा हो गए थे। अब तक उसे कभी भी महसूस नहीं हुआ था कि वह लच्छो को इतना चाहता है और उसके बिना शायद वह अकेला जी भी नहीं सकेगा। आँखों-ही-आँखों में न जाने क्या मूक आदान-प्रदान हो जाता था; वैसे राजीव ने कभी लच्छो की अँगुली तक नहीं छुई थी और न कभी बहुत घुल-मिल कर उससे बातें ही की थीं। अपने संकोची स्वभाव के कारण औरतों और ख़ास कर युवतियों से राजीव बहुत कम बोलता था। जिस दिन पहली बार उसने लच्छो को देखा था, उसकी आँखें मानों उसके चेहरे पर ही चिपक गई थीं और उसे ऐसा लगा था मानो वह कोई बड़ा ही सुपरिचित-सा चेहरा है।

राजीव ने दोनों हाथों से अपनी गीली आँखें मूँद लीं। वह पसीने-पसीने हो चला था। उसने चाहा कि लच्छो का ख़्याल अपने मन से निकाल दे, पर ऐसा सोचने और आँखें मूँदने के बावजूद लच्छो का दूर हटना तो दरकिनार रहा, उसकी शत्-शत् शक्लें मानों उसके अन्तर बाहर उसके इर्द-गिर्द घूमने लगीं। परेशान होकर उसने तकिए में मुँह छिपा लिया और सुबकने लगा। उसका शरीर पसीने से तर-बतर हो रहा था और उसे ऐसा लग रहा था मानो भीतर-ही भीतर जैसे कुछ बैठा जा रहा हो। काश! इसी तरह उसके प्राण निकल जाते और वह इस दुःसह पीड़ा से मुक्ति पा जाता। पर मुक्ति इतनी सस्ती थोड़े ही मिला करती है। आज मृत्यु का मौन मानो बन्धन बन कर उसे जकड़े था।

एक सिहरन के साथ उसके शान्त कण्ठ और मूक जिह्वा पर से सहसा एक शब्द—बल्कि उसका आशय—रेंग-सा गया—आत्महत्या! और फिर राजीव काँपा। इधर-उधर देखा। सारा कमरा मानो घूम रहा है। चारों दीवारें मानो एक-दूसरी से आकर जोर से भिड़ जाना चाहती

हैं और बीच में पीस देना चाहती हैं इस अभागे राजीव को, जिसके दिल-दिमाग़ से मानो कोई जीवन ही निकाल कर ले गया हो। उसे ऐसा लगा, मानो उसकी चारपाई का बीच का हिस्सा सीधा पाताल की ओर धँसा जा रहा है। हड़बड़ा कर राजीव उठा और खिड़की के पास आ खड़ा हुआ। दोनों हाथों से ढकेल कर उसने खिड़की के दोनों किवाड़ खोल दिये और बाहर देखने लगा। क्षितिज पर पीला चाँद निस्तेज हो डूब रहा था। रात एक धुमैले वस्त्र-सी श्रीहीन हो चली थी। चारों ओर मृत्यु का-सा सन्नाटा छाया था। सड़क की बत्तियाँ निरुद्देश्य जीवन-सी अपने आपको जलाये जा रही थीं। काली सड़क मरे हुए अजगर-सी निश्चल निर्जीव पड़ी थी। राजीव कुछ आगे खिसका और खिड़की में से नीचे की ओर झुका। इसी समय कच्चे विश्वासों की तरह उसके पाँव उखड़े और एक बुझे हुए सितारे की तरह तेज़ी से वह पृथ्वी की ओर चला—उस पृथ्वी की ओर, जिसने एक दिन विपद्ग्रस्ता सीता को शरण दी थी।

—२—

सिर के टाँके कट जाने पर राजीव घर लौट आया। बायें हाथ की हड्डी के ठीक जगह पर न जमने से कुछ खोट रह गया था। उसकी आँखों का तेज जैसे खो गया था। ज़बर्दस्त आघात के कारण उसकी स्मरण-शक्ति नष्ट हो गई थी और कोरी पट्टी-सी उसकी ज़िन्दगी फिर एक नये सिरे से शुरू हो रही थी। पर शुरू होने को अब वहाँ था ही क्या? एक ज़िन्दा लाश की तरह हिलता-डोलता राजीव मानो एक अर्थ और उद्देश्यहीन जीवन का बोझ ढो रहा था। और वह भी इसलिए कि उसे इस अर्थहीनता और बोझ का एहसास नहीं था। वह एकदम खोया-खोया-सा रहने लगा।

उसकी इस हालत से माता-पिता बड़े परेशान थे। कभी वे कुछ पूछते, तो राजीव एक क्षण अर्थहीन दृष्टि से उनकी ओर देखता और

फिर नजर हटा कर शून्य में देखने लगता—बोलता कुछ नहीं। उन्होंने लाख चेष्टा की कि किस तरह वह अपने मुँह से एक शब्द तो कहे, पर सब बेकार। डाक्टर भी कुछ निदान नहीं कर पा रहे थे। यही कहते थे कि दिमा पर चोट आ जाने से शायद उसकी वाक्-शक्ति नष्ट हो गई है। कह कर उससे कुछ करवाना असम्भव था। मन होता, तो खाता; अन्यथा कई दिनों तक कुछ खाता-पीता ही नहीं। सब तरह के प्रयत्नों के विफल होने पर माँ-बाप ने उसके सामने पत्र-पत्रिकाएँ और पुस्तकें रखना शुरू किया। पर कभी वह घूँसा या लात मार कर उन्हें मेज़ से नीचे गिरा देता और कभी फाड़ डालता। कभी वह किसी पत्र-पत्रिका के किसी चित्र अथवा किसी पुस्तक के एक ही पृष्ठ को सामने रख कर घंटों उसे ही देखा करता। पर उसके चेहरे पर जैसे कोई भाव ही नहीं होता था—आँखें पथराई हुई-सी खुली की खुली ही रह जाती थीं।

और एक दिन सहसा इस स्थिति में व्याघात उपस्थित हुआ, जब उसने अपने पिता द्वारा माँ के सामने एक अख़बार करके उन्हें यह कहते सुना—"राजीव की माँ, गज़ब हो गया! राम, राम! उस बेचारी लच्छो का....."

हड़बड़ा कर राजीव की माँ ने कहा—"हैं! क्या हुआ उसे? पता लगा कुछ उसका? कहाँ है वह? कैसी है? कोई ख़बर छपी है क्या इसमें? जल्दी बताओ।"

और राजीव के पिता कुछ कहें, इससे पहले ही राजीव ने आगे बढ़ कर उनके हाथ से अख़बार ले लिया और एक ही नज़र में जैसे उसकी आँखें बड़े-बड़े अक्षरों में छपे शीर्षकों को पी गईं—'एक शरणार्थी लड़की का अपहरण! पिस्तौल दिखाकर उसके साथ बलात्कार किया गया!! अदालत में रोती हुए लक्ष्मी देवी का बयान!!!'

एक घने अँधेरे की चादर जैसे राजीव की आँखों के आगे छा गई।

अखबार उसके हाथ से छूट कर गिर पड़ा और एक ज़ोर की चीख़ के साथ वह भी वहीं ढेर हो गया। माँ हक्का-बक्का हो कर उस पर गिर पड़ीं और पिता ज़ोर-ज़ोर से 'बेटा राजीव ! बेटा राजीव !' कहते-कहते हत्प्रभ हो कमरे में इधर-उधर टहलने लगे। आख़िर और कोई उपाय न देख वे डॉक्टर को बुलाने के लिए चल पड़े।

थोड़ी देर बाद जब वे डॉक्टर को लेकर लौटे, तो क्या देखते हैं कि राजीव की माँ दोनों घुटनों पर कुहनियाँ टेके दोनो हाथों से सिर थामे बैठी हैं। उनकी आँखों से टप्-टप् आँसू गिर कर उस अखबार को भिगो रहे हैं, जो लक्ष्मी देवी के बलात्कार के विवरण में रँगा था। व्यग्र होकर उन्होंने पूछा—"राजीव कहाँ गया ?" पर राजीव की माँ ने कोई जवाब नहीं दिया। इस पर उनकी बेसब्री और बढ़ गई। दोनों कन्धे पकड़ कर राजीव की माँ को झकझोरते हुए उन्होंने पूछा—"सुनती नहीं, मैं पूछता हूँ कि राजीव कहाँ है ?" पर इस बार भी कोई उत्तर नहीं मिला। अधीर होकर उन्होने झुक कर राजीव की माँ की आँखों में आँखें डाल कर चिल्ला कर पूछा—"मैं पूछता हूँ राजीव कहाँ है ?" इस बार जैसे राजीव की माँ की तन्द्रा टूटी और बिना हिले-डुले भर्राये हुए कण्ठ से उन्होने कह दिया —"चला गया।"

"चला गया ! कहाँ ?" चीख कर राजीव के पिता ने पूछा।

"मै क्या जानूँ ?" फिर वही भर्राई हुई आवाज।

यह दूसरा आघात था। बिना कुछ कहे-सुने राजीव का चला जाना और यह आशंका कि इस मनोदशा में वह कहीं कोई ऐसा-वैसा काम न कर बैठे, उनके मन को बुरी तरह मथने लगी। कहाँ जायँ, कहाँ ढूँढ़ें उसे ; वे कुछ भी तय नहीं कर पा रहे थे। बिना बुलाए आने वाले सन्ध्या के अन्धकार की तरह एक गहरा तम उनके मानस पर छाने लगा था और घनीभूत होकर वह जैसे एक गहरी पीड़ा की सृष्टि करने लगा था।

धीरे-धीरे समय का ज्वार कम हुआ और दिन बीतने लगे। राजीव के माँ-बाप जीते हुए भी जैसे मौत के अनुभव में से गुज़र रहे थे। क्या करें, कहाँ जायँ, कुछ समझ में नहीं आ रहा था। इसी बीच एक दिन राजीव के एक पुराने दोस्त महेश ने आकर बताया कि राजीव को फाँसी की सजा हो गई। दोनों हक्के-बक्के रह गए। उनकी कल्पना शिथिल और निर्जीव हो गई। कुछ समझ में नहीं आया। पूछने पर महेश ने बताया—"जब अदालत ने फैसला सुनाया कि अभियुक्त के खिलाफ बलात्कार करने का कोई जुर्म साबित नहीं हो सका, अतः उसे बाइज्ज़त रिहा किया जाता है, तो लच्छो बेहोश होकर वहीं गिर पड़ी। न जाने कहाँ से आकर राजीव ने रिहा हुए अभियुक्त को गोली मार दी और फिर तो अदालत में ऐसा कुहराम मचा कि न पूछो। मैं उस तक पहुँचूँ और कुछ कहूँ, इससे पहले ही पुलिस वाले उस पर टूट पड़े। उसके हाथ से पिस्तौल छीन लिया और घसीट कर उसे पुलिस लारी की ओर ले गए। फिर उस पर एक व्यक्ति की हत्या करने का मुकदमा चला। 'अपराध' उसने स्वीकार किया इसीलिए उसे फाँसी की सज़ा मिली है। प्रिवी कौंसिल में अपील करने या किसी से मिलने-भेंटने से उसने खुद ही साफ़ इन्कार कर दिया है। मैंने उससे मिलने की कोशिश भी की, तो पता चला कि मुझे न जानने का बहाना बना कर राजीव ने मिलने से इन्कार कर दिया। अब शायद चार-छः दिनों में ही उसे फाँसी दे दी जाय।"

राजीव की माँ को यह सब सुन कर जैसे बेहोशी-सी आने लगी और उसके पिता अपनी डबडबाई आँखों में खोने वाली दृष्टि की तरह जैसे अपने अन्तर का प्रकाश भी खोने लगे। राजीव, उनके बुढ़ापे का सहारा, उनके भविष्य का आशापुंज था। आत्महत्या से बचा, तो अब और फाँसी का तख़्ता! सोचते-सोचते उनकी आँखो के आगे अँधेरा छा गया, उन्हें पता ही न चला कि महेश कब उनके पास से उठ कर चला गया।

राजीव ने कोई अपील नहीं की। उसके माता-पिता द्वारा बिना उसकी सहमति और जानकारी के की गई रहम की प्रार्थना भी ठुकरा दी गई। अब राजीव चुपचाप दिन के अँधेरे में बैठ कर जीवन की अन्तिम घड़ियाँ गिनने लगा।

पता नहीं, फाँसी देनेवालों ने प्रातःकाल सूर्योदय से पहले का समय ही फाँसी के लिए क्यों निश्चित किया है? शायद उनकी मंशा यह हो कि जिसके जीवन को सदा के लिए अस्त करना है, उसे अन्तिम दिन का सूर्योदय भी भला क्यों देखने दिया जाय! फाँसी मृत्यु का परवाना है और सूर्योदय जीवन का प्रतीक। पर ऐसे लोग भी हुए और होते हैं, जिन्होंने फाँसी के तख्ते और फन्दे की अवमानना कर इस सूर्योदय का ही सम्मान किया है और जीवन को उपहार में पाया है। राजीव भी ऐसे ही लोगों में से था। फाँसी की पहलेवाली रात को सेल में लेटे-लेटे उसे ख्याल आया—मैं सीधा हूँ, शरीफ़ हूँ। कभी किसी का कुछ नहीं बिगाड़ा मैने। दोष मेरा यही है कि अन्याय और अनीति को मैं सह नहीं सकता। इसी के लिए मैंने—जिसने कभी किसी का जी नहीं दुखाया, कभी किसी का एक रोम तक नहीं दुखाया—एक आदमी का, नहीं-नहीं शैतान का, खून किया। इसका पुरस्कार मुझे मिला—फाँसी। तो क्या मैं इसके सामने झुक जाऊँगा? इसे मानना क्या अन्याय न होगा, अनीति न होगी? और मेरे जीवन का प्रण ही है—जहाँ कहीं भी अन्याय और अनीति हों, उनसे लड़ना, जूझना। तब? ज़िन्दगी इतनी सस्ती नहीं कि यों सस्ते ही खो दी जाय। पर...और उसे ख्याल आया उन क्रान्तिकारियों का, जिन्होंने जीवन को सस्ते ही फाँसी के तख्ते पर चढ़ा कर ख़त्म नहीं किया, बल्कि उसे जन-संघर्ष के प्रवाह में फेंक दिया। पुरुषार्थ इसका नाम है।

और सहसा उसकी आँखें अपने सेल के किवाड़ की छड़ों की तरफ़ गईं। अँधेरे में बज्र की तरह कठोर और अचल खड़ीं ये भावशून्य शलाकाएँ उसे आज मानो और भी कठोर और भयंकर लग रही थीं।

फिर उसके हाथों की नसों में एक मरोड़-सी उठी। सीने में एक उभार-सा आया और आँखें चमक उठीं। वह उठ बैठा। अँधेरे में उसकी आँखों में स्फुलिंग का स्पर्श पा मानो वे लोह-शलाकाएँ काँपने-सी लगीं और फिर...

कुछ क्षणों बाद राजीव मुक्त हवा में साँस ले रहा था। तारों-छाई रात का चँदोवा ताने मुक्त पवन उसे न जाने किधर लिये जा रही थी। शव की राख-सी जेल एक निर्जीव संज्ञाहीन चिन्ह-सी खड़ी थी और राजीव को मानो वापस बुलाने के लिए बज उठी थी पगली! पर अँधेरे की शरण में जाकर राजीव मानो कैद् की पहुँच से बाहर हो गया था।

—३—

नौकरी की तलाश में राजीव ने न जाने कितने घर-द्वारों की ख़ाक छानी पर कुछ भी परिणाम नहीं निकला। एक दिन अख़बार में एक सेठ के लड़कों को पढ़ाने के लिए एक मास्टर की आवश्यकता देख कर वह वहाँ जा पहुँचा। सेठ जी की बैठक में पाँव रखते ही वह ठिठक गया—एक बड़ा भव्य कमरा, हल्के हरे रंग का डिस्टेम्पर। छत से कट-ग्लास के झाड़-फ़ानूस लटक रहे थे और चारों दीवारों पर देश के प्रमुख नेताओं के चित्र लगे थे। फ़र्श पर पूरे कमरे की लम्बाई-चौड़ाई का एक क़ालीन बिछा था, जिस पर एक ओर आधे कमरे की साइज़ की एक बड़ी मोटी गद्दी थी। उस पर बैठे हुए कई लोग बहियों और रजिस्टरों में कुछ लिख-पढ़ रहे थे। कमरे के द्वार पर पहुँचने पर पहले तो किसी ने उसकी ओर देखा भी नहीं। फिर जब एक आदमी ने उसे खड़ा देख कर रुखाई से पूछा—'क्या है?'—तो उसने विज्ञापन के सम्बन्ध में सेठ जी से मिलने की बात कही, इस पर उससे कहा गया कि अभी सेठ जी पूजा में हैं, ज़रा बाहर बैठो।

बाहर एक लम्बी बैंच पड़ी थी, जिस पर कई दरबान और उनके-से ही लोग बैठे थे। उसी के एक छोर पर राजीव भी बैठ गया। लगभग

डेढ़ घण्टे बाद खड़ाऊँ पहने एक मोटा-ताजा व्यक्ति खट-खट करता हुआ नीचे आया। चिकना-चुपड़ा मुँह, पान चबाते हुए ललाट पर चन्दन का तिलक, पतली महीन धोती, रेशमी बनियान, गले में सोने की चेन, हाथ में सोने की दो-तीन अँगूठियाँ और बनियान से बाहर झाँकती हुई तोंद—चेहरे-मोहरे से वही सेठ मालूम देता था। उसे देख कर बाहर बैंच पर बैठे सब व्यक्ति उठ कर खड़े हो गए—सिवा राजीव के, जिसे कि अदब बजाने की इस परम्परा में तनिक भी विश्वास न था। उसने एक प्रश्नसूचक दृष्टि राजीव पर डाली—मानो अपने आने पर इस बैंच पर बैठ कर भी खड़े न होने की कैफ़ियत तलब कर रहा हो—और पान चबाते हुए कमरे के भीतर चला गया।

थोड़ी देर और प्रतीक्षा करने के बाद राजीव भीतर गया और सेठ के सामने विज्ञापन रख कर बोला—"मैं इस काम के सिलसिले में आया हूँ।"

सेठ ने पहले तो एक तीखी दृष्टि से उसे तौला और फिर नाम, पिता का नाम, सकूनत, जाति, विचार, रुचि आदि पूछने के बाद पूछा—"आपकी कोई ज़मानत दे सकता है यहाँ—मेरा मतलब है आपको यहाँ का कोई मौतबिर आदमी जानता है?"

"जी नहीं", राजीव ने कहा—"यहाँ के किसी मौतबिर से मेरा परिचय नहीं और किसी से अपने बारे में तस्दीक कराऊँ, इसकी मैं कोई ख़ास ज़रूरत भी नहीं समझता; क्योंकि आप मुझे कोई रुपये-पैसे का काम तो सौंप नहीं रहे हैं। बच्चों की पढ़ाई का ही तो काम है, सो मुझे कुछ दिन पढ़ाने का मौक़ा देकर देखें। अगर मेरा काम संतोषजनक जँचे, तो रख लें, अन्यथा राम-राम।"

"अच्छी बात है। तो कल सुबह ७ बजे आ जाना।" सेठ ने कहा।

दूसरे दिन से राजीव ने सेठ के बच्चों को पढ़ाना शुरू कर दिया। किसी को पढ़ाने का राजीव का यह पहला ही मौका था। पेशेवर मास्टरों

का ढर्रा उसे मालूम न था, अतः उसने अपने ढंग से ही बच्चों को पढ़ाना शुरू किया। उसने ध्यान सिर्फ़ इस बात का रखा कि बच्चों की रुचि या उनकी पसन्द-नापसन्द आदि का पूरा ख़्याल रखा जाय और कोई चीज़ जबरन उनके दिमाग़ पर न थोपे। परिणाम यह हुआ कि बच्चे बड़ी प्रसन्नता से पढ़ने लगे। राजीव उनका शिक्षक ही नहीं, हँसी-दिल्लगी और घूमने-फिरने का साथी भी हो गया। सेठ जी उसके काम से संतुष्ट ही नहीं हुए, उसके वहीं रहने और अपने यहाँ ही खाने-पीने की व्यवस्था करने तक को राज़ी हो गये। नीचे दरबानों के रहने की जो कोठरियाँ थीं, उनमें से एक राजीव को दे दी गई और इस प्रकार वह सेठ जी के परिवार के एक उप-सदस्य के रूप में वहीं रहने लगा।

एक दिन काफ़ी रात गये, जब कि राजीव लेटे-लेटे पढ़ रहा था, उसने अपनी कोठरी के ऊपर की छत पर के कमरे में किसी के जल्दी-जल्दी दौड़ने का शब्द सुना। उठ कर वह सहन में आया और कान लगा कर सुनने लगा। किसी के ज़ोर-ज़ोर से बोलने और रोने की-सी आवाज़ आ रही थी। दबे पाँव वह ऊपर पहुँचा और कमरे के किवाड़ को धीरे से अन्दर ढकेला। पर वह भीतर से बंद था। उसे लगा, जैसे भीतर कुछ हाथापाई-सी हो रही है। जल्दी से वह नीचे आया और बाहर लगे पाइप के सहारे ऊपर चढ़ कर कमरे की पिछवाड़े की खिड़की तक पहुँचा। कमरे में उसने जो कुछ देखा, उसे ऐसा लगा मानो वह किसी नाटक के नेपथ्य में आ खड़ा हुआ हो। एक स्त्री, जिसके बाल बिखर गये थे और कपड़े फट गये थे, ज़ोर-ज़ोर से खड़ी काँप और हाँफ़ रही थी और भूखे भेड़िये की तरह अस्त-व्यस्त कपड़ों और शैतान की-सी नज़र से उसे घूरते हुए सेठ उससे कह रहा था—"देख, ज़िद न कर। आख़िर तेरा अब रहा भी क्या है? मैं तुझे हमेशा के लिए नौकरी की ज़हमत से मुक्त कर, सोने और हीरे-पन्ने से मालामाल कर दूँगा। तुझे किसी तरह की भी तकलीफ़ या कमी न होगी।"

लरजते हुए स्वर में स्त्री ने कहा—"शैतान, कमीने कहीं के; तेरे मन में कुछ भी दया-धर्म नहीं है क्या ? तेरे कोई माँ-बहन नहीं हैं क्या ? मुझ मुसीबतज़दा को अकेली पाकर मेरी अस्मत पर ही डाका डालने चला है। अब समझी हूँ कि तूने मुझे भ्रष्ट करने को ही सहायता और शरण देने का यह जाल बिछाया था। तू आदमी नहीं, साँप है....."

इसके आगे स्त्री ने क्या कहा, राजीव ने नहीं सुना, क्योंकि अब वह पहचान गया था कि यह स्त्री और कोई नहीं, लच्छो है। वह खिड़की से कूद कर कमरे में दाख़िल हुआ और बाज़ की तरह सेठ पर झपटा। सेठ की गर्दन दोनों हाथों में दबोच कर उसने उसे फर्श पर पटक दिया और उसकी छाती पर लात रख कर बोला—"तूने बुरे वक्त मुझे शरण और सहायता दी है, इसलिए तुझे जान से मारना तो मेरे लिए मुमकिन नहीं; पर तूने एक असहाय स्त्री का सतीत्व लूटने की जो कुचेष्टा की है, उसके लिए तुझे सज़ा ज़रूर मिलनी चाहिए।"

—४—

जब राजीव सेठ को मारने तथा लूटने के इल्ज़ाम में ४ साल की कैद भुगत कर जेल के फाटक से बाहर निकल रहा था, तो उसे ऐसा लग रहा था मानो एक बुझा हुआ दिया, जिसमें न तेल है, न बत्ती, बेकार हो जाने पर बाहर फेंका जा रहा है। उसके विचार, उम्मीदें, भावनाएँ, आकांक्षाएँ और न जानें मन की क्या-क्या पूँजी जैसे लूटी जा चुकी थी। उसका विवेक पथरा गया था, बुद्धि को जैसे काठ मार गया था। एक के बाद एक उसे दुनिया के जो तलख़ तजुर्बे हुए थे, उन्होंने उसे बड़ा कटु बना दिया था। किसी इन्सान की शक्ल देख कर उसे ऐसा लगता था मानो वह शैतान की मनहूस शक्ल पर चढ़ा एक आवरण-मात्र है, जो पता नहीं कब उतर जायगा। और इसलिए किसी आदमी के पास से गुज़रने तक में उसके रोंगटे खड़े हो जाते थे। एक अज्ञात भय उसे आवेष्ठित कर लेता था।

पर इस धुन्ध और अँधेरे को चीर कर उसे जीवन-क्षितिज पर जब-तब जो एक रुपहली रेखा दिख जाती थी, वह थी लच्छो की—उस अभागिनी नारी की, जिसका सौन्दर्य उसके लिए हर क़दम पर अभिशाप बन रहा था और जिसके मन में छिपा हुआ प्रेम एक के बाद दूसरे आघात का शिकार बन रहा था। दो दिलों के बीच का यह अदृष्ट संबन्ध पता नहीं इतना गहरा और अटूट क्यों होता है? पर अब कहाँ होगी लच्छो? भला इतने वर्ष वह उसके लिए प्रतीक्षा थोड़े ही करती रही होगी? तेज़ नदी में बहते हुए दो तिनकों की तरह आज तो वे एक-दूसरे से न जाने कितनी दूर और अलग-अलग हैं। पर...आशा क्या कभी मरती है?

फाटक से बाहर निकल कर राजीव उस रास्ते पर चलने लगा, जो शहर की तरफ़ जाता था। अभी वह चार डग भी मुश्किल से चला होगा कि पीछे से किसी ने दौड़ कर उसे पुकारा। राजीव ने मुड़ कर देखा, यह लच्छो थी—आज भी प्रकृति के उपवन के सबसे ताज़े और ख़ूबसूरत फूल की तरह उत्फुल्ल! उसकी आँखें भर आईं और दोनों एक-दूसरे को एकटक देखते रह गये।

# रतन की माँ

उस दिन सुबह चाय की दूकान में बैठे कई लोग चाय पी रहे थे। कोई अख़बार पर नज़र टिकाये चाय की चुस्कियाँ ले रहा था, तो कोई सिगरेट से धुँए के गोले और बादल निकाल-निकाल कर चाय का आनन्द ले रहा था। मैं सबसे अनजान-अपरिचित एक कोने में बैठा चाय से ज्यादा बारी-बारी से इन मानव मूर्त्तियों की शक्लों, क्रिया-कलापों और भाव-भंगिमाओं का अध्ययन कर रहा था।

इसी समय एक हाथ में चाय की एक छोटी, मैली और पिचकी हुई एल्यूमीनियम की केटली और दूसरे में कागज़ के ठोंगे में मूड़ी तथा ढाक के एक पत्ते में लिपटी हुई कोई चीज़ लिये ८-९ वर्ष की एक लड़की ने प्रवेश किया। लड़की का वर्ण गोरा था। यद्यपि उसका शरीर सूखा-सा था, पर चेहरे पर कान्ति थी और नक्श साँचे में ढले-से तथा बड़े सँवरे थे। शरीर पर उसके केवल एक मैली-सी निकर भर थी। उसे दूकान में घुसती देख कर कई लोगों की नज़रें उधर उठीं—हास्य और व्यंग्य से चमकती हुई। एक ने आगे बढ़ कर उसके हाथ से मूड़ी का ठोंगा छीन लिया और हँस कर पूछा—"यह मूड़ी किसके लिए है री?" लड़की कुछ कहे, इससे पहले ही एक दूसरे व्यक्ति ने उसके हाथ से ढाक का पत्ता छीन कर उसमें लिपटी हुई चीज़ की ओर देखते हुए कहा—"अरे वाह! इतना छोटा-सा सन्देश। इसे कौन खायगा री?"

भय-विह्वल आँखों से लड़की ने दोनों प्रश्नकर्त्ताओं की ओर देखा, पर उत्तर कुछ नहीं दिया। आसपास बैठे लोग खिलखिला कर हँस पड़े। पहले व्यक्ति ने मूड़ी के कुछ दाने निकाल कर मुँह में डाले और उन्हें चबाते हुए बोला—"मूड़ी तो एकदम गरम और फर्स्ट क्लास है। क्यों

री रतन, सच-सच बता, यह किसके लिए लाई है ?" दूसरे ने ढाक के पत्ते में लिपटे सन्देश को उसी में गुड़ी-मुड़ी कर रतन को लौटाते हुए मुँह बिचका कर कहा—"भात खाने तक को तो पैसे नहीं और बेगम साहबा खायँगी सन्देश !"

इस बार रतन की भय और संकोच-भरी आँखें शर्म से झुक गईं और आसपास के लोग फिर ठहाका मार कर हँस पड़े। बिना कुछ बोले उसने मूड़ी का ठोंगा लेने को हाथ बढ़ाया और जब उसे लिये हुए व्यक्ति ने उसे दूसरे हाथ में लेकर इतना ऊँचा कर दिया कि रतन का हाथ वहाँ तक न पहुँच सके, तो ज़रा खिन्न होकर रतन ने कहा—"दो न; मुझे देर हो रही है। फिर माँ लड़ेगी।"

"ओह, बड़ी आई माँ !" होंठों में बल देकर पास बैठे एक बूढ़े ने ताने के स्वर में कहा—"बदज़ात कहीं की। सौ-सौ चूहे खाय बिलैया हज को चली !"

और सारी दूकान फिर व्यंग्यपूर्ण हँसी के एक ठहाके से गूँज उठी। इस बार अधिक लोगों ने हँसने में योग दिया था। पर इस अधिक हँसी ने रतन को और भी अधिक उदास बना दिया था। उसने फिर मूड़ी के लिए हाथ बढ़ाते हुए कहा—"दो न; मुझे देर हो रही है।"

"नहीं; यह मूड़ी तो मैं खाऊँगा," उस व्यक्ति ने चिढ़ाने को कहा।

"नहीं, फिर माँ क्या खायगी ?" सहज भाव से रतन बोली।

"अरे ! उसकी चिन्ता तुझे क्यों ? उसके लिए तो मैं हाज़िर हूँ।"

फिर सब लोग हँस पड़े। रतन का चेहरा और उदास हो गया। एक व्यक्ति को शायद दया आ गई। उसने पहले व्यक्ति के हाथ से मूड़ी का ठोंगा लेकर रतन को देते हुए कहा—"बस काफ़ी हो चुका। बच्ची से ज़्यादा मज़ाक करना अच्छा नहीं।"

और सहसा मैं जैसे आकाश से धरती पर आ गिरा। तो यह सारा उस बच्ची के साथ इस सभ्य-सुसंस्कृत भद्र-मंडली का मज़ाक था। बेचारी

रतन ठोंगा लेकर दूकानदार की ओर बढ़ी और केटली मेज़ के कोने पर रखते हुए बोली—"एक आने की चाय दो। माँ ने कहा है। पानी थोड़ा ज़्यादा देना।"

इस बार शायद दूकानदार की बारी थी। उसने एक तिरस्कारपूर्ण दृष्टि से केटली की ओर देखा और फिर उसे थोड़ा-सा रतन की ओर सरकाते हुए बोला—"नहीं है चाय, जाओ और कहीं से ले लो। चार पैसे की चाय लेगी और चालीस हुक्म चलायेगी। पानी ज़्यादा देना, दूध ज़्यादा देना, चीनी ज़्यादा देना! तो फिर कमती क्या रहा? चार पैसे क्या हुए चार अशर्फ़ियाँ हो गईं।"

इस बार रतन रुआँसी हो गई। धीरे से केटली फिर दूकानदार की ओर खिसकाते हुए वह बोली—"अच्छा, जितनी देते हो, उतनी ही दो।"

पर दूकानदार नहीं पसीजा। वह तना ही रहा, बोला—"चोर-बाज़ार से ६२) रुपये मन चीनी लानी पड़ती है; १।) रुपये सेर का दूध है; और ये यतीमखाने की औलादें आ जाती हैं चार पैसे की चाय लेने और ऊपर से कहती हैं कि पानी ज़रा ज़्यादा हो।"

रतन के पास जैसे कोई तर्क न हो, वह चुपचाप खड़ी दूकानदार का चेहरा देखने लगी। दूकानदार ने दो-एक क्षण उसके उत्तर की प्रतीक्षा की; फिर घुड़क कर बोला—"डायन की तरह घूर क्या रही है री? दो आने पैसे निकाल, तब देख बढ़िया चाय देता हूँ या नहीं।"

बिलख कर रतन ने हाथ की मुट्ठी खोल कर दिखाते हुए कहा—"मेरे पास तो सिर्फ़ यह इकन्नी ही है।"

दूकानदार ने इकन्नी की ओर देखा और फिर गिद्ध की तरह जल्दी से उसे उठा कर गल्ले में डालते हुए बड़बड़ाया—"पास में पैसे नहीं, और आई है लाटसाहबी बघारने। बड़ी रईसज़ादी बनती है!"

दूकान में बैठे लोग फ़िर हँस पड़े। दूकानदार अपने मार्मिक और

कुशल व्यंग्य के अभिनय की सफलता पर मानो मन ही मन फूला नहीं समा रहा था। एक व्यंग्य-भरी मुस्कुराहट के साथ उसने रतन की केटली उठाई और उसमें चाय डालने लगा।

हँसी-मसखरी बराबरवालों के साथ होती है, अब तक तो यही सुना और समझा था; पर आज रतन जैसी बच्ची के इतने बड़े-बड़े दोस्तों और उनका यह मज़ाक का ढंग और व्यवहार देख कर मैं कुछ असमंजस में पड़ गया। अपनी उत्सुकता को अधिक देर दबा रखने में असमर्थ होने के कारण पास बैठे एक व्यक्ति से मैं पूछ ही तो बैठा—"यह लड़की कौन है?"

"आप इधर नये आये जान पड़ते हैं," उस व्यक्ति ने ज़रा ग़ौर से मुझे देखते हुए कहा—"यह इस शहर की मशहूर तवायफ़ देवयानी की लड़की है। एक ज़माना था, जब शहर के बड़े-से-बड़े रईस उसकी एक नज़र और एक मुस्कुराहट के मुश्ताक़ थे। पर आज बेचारी दाने-दाने को मुहताज है।"

मुझ पर अचानक जैसे घड़ों पानी पड़ गया हो। नारी-पूजकों के इस देश में आधुनिक देवयानी की यह इज्ज़त और उसकी अज्ञात कुल-नामा बच्ची के साथ यह व्यवहार!

× × ×

रतन की माँ ने कराहा और बिना आँखें खोले ही क्षीण स्वरों में कहा—"पानी।"

मैंने पानी का गिलास उसके मुँह से लगा दिया। एक घूँट लेकर उसने आँखें खोलीं और मुझे देखकर जैसे स्तम्भित-सी रह गई। उसकी आँखों में एक गम्भीर प्रश्न था, जो वाणी द्वारा व्यक्त नहीं हो पा रहा था। कुछ क्षण बाद आँखें बन्द हो गईं और सिर फिर तकिये के सहारे लुढ़क गया।

इसी समय रतन दवा लेकर आ पहुँची। दवा की एक खुराक उसकी

माँ के मुँह में डालकर मैं उसकी शय्या के पास ही टहलने लगा। रतन सकपकाई-सी आँखें फाड़े माँ की ओर देख रही थी। न जाने कितने क्षण इसी अवस्था में बीते। फिर रतन की माँ का सिर हिला, उसने आँखें खोलीं और कहा—"पानी।"

मैंने ज्यों ही पानी का गिलास उसके मुँह के पास किया, उसने तीक्ष्ण दृष्टि से मेरी ओर देखा और फिर रतन की ओर। रतन शायद उन आँखों का प्रश्न नहीं समझ पाई थी, अतः मैंने ही कहा—"तुम पहले पानी पी लो, फिर मैं अपना परिचय दूँगा।"

तिरस्कार-भरी अपनी दोनों आँखों को प्रयासपूर्वक मेरे चेहरे पर से हटाते हुए देवयानी ने काँपते हुए होठ गिलास से लगा दिये और दो घूँट पानी पीकर फिर आँखें मूँद कर सिर तकिये पर लुढ़का दिया। उसकी व्यथा का मैं केवल अनुमान भर ही कर सकता था; पर वह कितनी मानसिक है और कितनी शारीरिक, इसके बीच की सीमा-रेखा खींचना मेरे लिए सम्भव न था।

इसी समय देवयानी की दोनों आँखें खुलीं और सिर को ज़रा मेरी ओर करते हुए उसने बुदबुदाया—"मुझे एक ही चिन्ता है। यदि मैं न रही, तो मेरी इस फूल-सी दुलारी रतन का क्या होगा? कौन इसे..." और फिर होंठ काँप कर चुप हो गये और जो बात वे नहीं कह सके, उसे जैसे उसकी आँखों से ढुलके दो आँसुओं ने कह दिया।

कष्ट-कठिनाई सहते-सहते मेरा मन कुछ ऐसा कड़ा हो गया है कि अब सामान्यतया किसी के आँसू देखकर पिघलता-पसीजता नहीं। पर देवयानी की व्यथा ने आज मुझे सचमुच विचलित कर दिया था। मैंने कहा—"नहीं, ऐसी भी भला क्या बात है? तुम जल्द ठीक हो जाओगी, और फिर मान लो कि यदि संयोगवश तुम को कुछ हो भी जाय, तो मैं जो हूँ। मेरी बात का विश्वास करो कि रतन को किसी भी बात की तकलीफ़ न होगी।"

क्षण भर रुक कर देवयानी ने कहा—"विश्वास कर लूँ तुम्हारा ? एक अपरिचित का ? एक पुरुष का ?" और फिर ठहाका मार कर वह ज़ोर से हँसी—इतनी ज़ोर से कि उसकी आँखों में आँसू छलछला आये और मैंने देखा कि यह हँसी नहीं, घृणा और कटुता में बुझी एक पीड़िता-पतिता नारी की वितृष्णा-मात्र थी। मैंने साहस कर कहा—"मैं तुम्हारी बात समझा नहीं।"

मेरी ओर आँखें लम्बी कर उसने कहा—"ऐसा कोई गूढ़ रहस्य तो मैं बता नहीं रही हूँ, जो तुम न समझो। मैं तो यही कह रही हूँ कि तुम एक पुरुष हो और तुम्हारा विश्वास मैं भूल कर भी नहीं कर सकती। तुम्हारी जाति ही है—कामान्ध, स्वार्थान्ध और विश्वासघाती। तुम कोई अपवाद थोड़े ही हो सकते हो ?" और फिर उसने रतन का हाथ पकड़ कर अपने पास खींचते हुए कहा—"बेटी, तू ही बता, अगर मैं नहीं रही तो तेरा क्या होगा ?"

रतन शायद इसका जवाब देने में असमर्थ थी, सो चुप रही। डब-डबाई आँखों से उसने पहले अपनी माँ की ओर देखा, फिर मेरी ओर और फिर सुबकने लगी। देवयानी ने उसका हाथ दबाते हुए पूछा—"और ये भद्र व्यक्ति कौन हैं ? तू क्यों इन्हें व्यर्थ तकलीफ़ देने यहाँ घसीट लाई ?"

"ये अपने पड़ोसी हैं, माँ,"—रतन ने कुछ उत्साह दिखाते हुए कहा—"बड़े अच्छे आदमी हैं। मुझे रोज़ एक आना चाय पीने को देते हैं।"

"दूर हट कलमुँही कहीं की !" रतन का हाथ झटक कर छोड़ते हुए देवयानी ने आक्रोश से कहा—"तो तू अब भीख भी माँगने लगी ?"

अब मुझ से चुप न रहा गया। मैंने कहा—"नहीं; रोज नहीं, कभी-कभी मैं जिस केबिन में चाय पीता हूँ, वहाँ रतन के पहुँचने पर इसे भी एक कप चाय पिलवा देता हूँ। यह क्या भीख देना है ?"

थोड़ी देर चुप रहने के बाद देवयानी कुछ शान्त हुई। फिर रतन से बोली—"तो जा, अपने इन बाबूजी के लिए चाय, सिगरेट और पान तो ला।"

मैं समझ गया कि जहाँ उनके अपने लिए चाय तक के पैसे नहीं जुट सकते, वहाँ भला मेरे लिए चाय, सिगरेट और पान कहाँ से आयेगा?

मैंने कहा—"देखो, इस सब की ज़रूरत नहीं। मैं पान-सिगरेट पीता नहीं और चाय अभी-अभी पीकर आ रहा हूँ। तुम ज़रा अपने मन को निश्चिन्त करके लेटो और कम से कम अभी रतन के भविष्य की चिन्ता न करो।"

"चिन्ता न करूँ? अपने कलेजे के इस टुकड़े के भविष्य की चिन्ता न करूँ? तब, क्या करूँ?" उत्तेजित होकर देवयानी ने कहा—"यह तो धूर्तों और बेईमानों का तर्क है। एक दिन इसी की भ्रान्ति में फँस कर अपने भविष्य की चिन्ता करने का काम भी मैंने भगवान को ही सौंप दिया था। पर उसने भी मेरी रक्षा नहीं की। उसने मुझे अपना ही प्रतिरूप उस शैतान को सौंप दिया, जो पुरुष कहलाता है। जिसने आम की तरह मेरा सारा रस चूस कर मुझे दूर फेंक दिया—निराश्रित, असहाय, रंगीन सपनों और सुखद स्मृतियों के घूरे पर।"

"तुम्हारी पुरुष के प्रति घृणा, कटुता और अविश्वास का कारण कुछ-कुछ मेरी समझ में आ रहा है। पर सभी पुरुष तो एक-से नहीं होते, जैसे हाथ की पाँचों.....।"

"बस, बस रहने दीजिये," उसने मेरी बात काटते हुए कहा—"आप यदि मेरे-जितने ठगाते, तो पता चलता। एक व्यक्ति विवाह करने का वायदा कर मुझे घर से भगा लाया। मेरे रूप और जवानी का सुख लूट कर उसने मुझे एक दूसरे के हाथ बेच दिया। उसने मुझ से रोज़गार करना शुरू किया। एक तीसरे व्यक्ति के इस आश्वासन पर विश्वास करके कि वह मुझ से विवाह कर गृहस्थ बनकर रहेगा, मैं उसके साथ भाग निकली

पर उसने भी वही किया, जो पहले दो व्यक्तियों ने किया था। फिर औरतों का व्यापार करनेवाले एक गिरोह के चक्कर में फँस कर मैं यहाँ आई, और एक दिन कोठे पर बैठने को मजबूर हुई। न जाने कितने शरीफ़ज़ादों की सेज़ सजाई। पुरुष मक्खियों की तरह मेरे चारों ओर भिनभिनाने लगे। सभी अपनी शरीर-क्षुधा शान्त करने से पहले मुझे स्वर्ग की अप्सरा बताते, विवाह कर सद्गृहस्थ बनने की सलाह देते और 'कल' आकर ले जाने का वादा भी करते; पर वह 'कल' इस जीवन में कभी भी न आया। जो रतन का बाप था, वह तो जैसे सारा जीवन मुझे न छोड़ने की प्रतिज्ञा ही कर चुका था। पर जब मैंने उसके सामने विवाह का प्रस्ताव रखा, तो वह हक्का-बक्का रह गया। बोला—'मैं जीवन भर तुम्हारा सारा ख़र्च बर्दाश्त करने को तैयार हूँ; परन्तु विवाह कर तुम्हें पत्नी की सामाजिक मर्यादा देना मेरे लिए कठिन ही नहीं, असम्भव भी है। क्योंकि समाज उसे सहन नहीं करेगा और सारे परिवार का मुँह काला हो जायगा।' इस पर मैं तिलमिला गई और उससे साफ़ कह दिया—'तो तुम अपना मुँह उजला रखो। पर अब कभी यह मुँह मुझे न दिखाना।' और सचमुच उस दिन के बाद वह शरीफ़ज़ादा फिर कभी न आया। जो भी हो, यह एक लम्बी कहानी है, जिससे आपको व्यर्थ उबाऊँगी नहीं। मैं आपसे कुछ नहीं चाहती; पर जब आप स्वयं ही आ गए हैं, तो इतना भर मेरा उपकार करें कि यदि मैं न बचूँ, तो रतन के लिए कुछ करें—इसे मेरी तरह ख़राब न होने दें।" और फिर अपने हाथ से पकड़ कर रतन को अपने पास खींच छाती से चिपटाते हुए उसने रोकर कहा—"यह अभी बच्चा है, निरी नासमझ। बेचारी समझती भी नहीं कि दुनिया क्या है, नारी क्या है, पुरुष क्या है? हाय री मेरी बच्ची!" और वह फूट-फूट कर रोने लगी।

"तुम निश्चिन्त रहो। भगवान् सब ठीक ही करेगा।" कह कर मैंने

घड़ी देखी। दफ़्तर का समय हो रहा था, अतः उठा और नमस्कार कर चला आया।

\+ \+ \+

रात का भोजन समाप्त कर मैं बैठक में आ बैठा और एक पुस्तक लेकर पढ़ने का उपक्रम करने लगा। सहसा किसी के पाँवो की आहट ने मेरा ध्यान भंग किया और ज्यों ही मैंने नज़र उठा कर देखा तो सामने रतन की माँ को खड़ी पाया। "अरे तुम! इस समय। बैठो, बैठो।" कह कर मैने सामने की कुर्सी की ओर इशारा किया।

रतन की माँ एक कोने में दुबक कर खड़ी हो गई और बोली—"आज सुबह से आपके पास आने को सोच रही थी। दिन को आने की हिम्मत इसलिए नहीं हुई कि पता नहीं, कोई देखेगा तो आपके बारे में भी न जाने क्या कुछ सोचे। इसलिए अब आई हूँ। आप दो मिनट का समय देंगे मुझे?"

"हाँ, हाँ, अवश्य। कहो, क्या बात है?"

"आपको याद है, आपने मेरी बीमारी के समय मुझे यह कह कर ढाढ़स बँधाया था कि मैं रतन के बारे में निश्चिन्त रहूँ। कह नहीं सकती कि मुझे उन शब्दों से कितना बल मिला था। शायद मेरे ठीक होने में भी आपके आश्वासन का काफी हाथ था—भले ही वह परोक्ष रूप से ही क्यों न रहा हो। मैं आपको विशेष कष्ट नहीं देना चाहती, पर एक बात में आपकी सहायता अनिवार्य हो गई है। उसी की भिक्षा माँगने आई हूँ।"

फिर वह सहसा चुप हो गई। मैंने पूछा—"हाँ, हाँ, कहो। क्या सहायता?"

"आप जानते हैं, मेरा मन तो मर ही चुका; इस शरीर का भी कुछ ठिकाना नहीं। पता नहीं, कब जवाब दे दे। अतः मैं चाहती हूँ

कि हाथ-पाँवों के चलते रतन के हाथ पीले कर दूँ, ताकि कम से कम बेफिक्री के साथ मर सकूँ।"

"हाँ, यह विचार तो बुरा नहीं है। पर अभी विवाह की इतनी जल्दी क्या है? अभी तो उसे कुछ पढ़ातीं, ताकि वह जीवन में अपने पाँवों पर खड़ी होने लायक होती। अभी तो वह मुश्किल से १३-१४ वर्ष की होगी।"

"आपका कहना ठीक है। मैं क्या नहीं चाहती कि वह पढ़े-लिखे? पर सच मानिए, एक-एक कर यहाँ की सारी कन्या पाठशालाओं में उसे भेज कर देख चुकी हूँ। कहीं से बाप का नाम न बताने पर उसे दुत्कार दिया गया, तो कहीं से फीस न दे सकने के कारण। और कहीं उसे बड़ी कोशिशों के बाद भर्त्ती किया भी, तो ज्ञात होने पर कि वह एक वेश्या की लड़की है, या तो लड़कियों ने उसका पढ़ना हराम कर दिया या अध्यापिकाओं ने ही स्कूल के अनुशासन और सफेदपोशों की लड़कियों पर बुरा असर न पड़े, इस बहाने इसे निकाल दिया। आख़िर सब तरफ़ से निराश होकर ही मैंने इसके हाथ पीले करने का निश्चय किया है।"

"कोई लड़का ठीक किया है क्या?"

"आप तो जानते ही हैं कि इस रूढ़िवादी देश में अच्छा लड़का मिलना कितना कठिन है? फिर रुपये-पैसे का प्रश्न भी है। लोग माँ-बाप, ख़ानदान और रक्त की विशुद्धता भी देखते हैं। इसलिए मैंने विज्ञापन दे कर एक युवक को ठीक किया है। कुलीन ब्राह्मण है, पर है ग़रीब। फिर उसके माता-पिता भी नहीं हैं। दूर के रिश्तेदार हैं; वे ही शादी में शरीक होंगे। इसीलिए वह आसानी से मान भी गया।"

"यह तो अच्छा है। तो बताओ, मुझ से क्या सहायता चाहिए?"

"वही तो कहने आई हूँ। आपने मेरा स्थान तो देखा ही है। वहाँ से रतन के विवाह की कल्पना भी नहीं की जा सकती। मैं चाहती हूँ कि

विवाह आपके घर से हो। कल सुबह वे लोग लड़की देखने आयेंगे। मैंने उन्हें आपके घर का ही ठिकाना दिया है, और यह भी कह दिया है कि मैं तो विधवा हूँ, आप मेरे दूर के भाई हैं; अतः विवाह आप ही कर रहे हैं।"

यह कह कर रतन की माँ ने झट झुक कर मेरे पाँव पकड़ लिये और रोते हुए कहा—"मैंने यह झूठ आपकी सहृदयता के भरोसे ही बोला है। कृपया अब मेरी लाज रखिए। मुझे बचाइए। रतन को बचाइए।"

मैं एकबारगी जैसे सकते में आ गया! यदि कभी अस्लियत प्रकट हुई, तो मेरा क्या हाल होगा? लोग क्या कहेंगे?

मुझे चुप देख कर रतन की माँ कुछ घबराई। सजल-कातर दृष्टि से मेरी ओर देखते हुए उसने भर्राई हुई आवाज़ में कहा—"आप चुप क्यों हैं! कुछ कहते क्यों नहीं? अब सोचने का समय ही कहाँ है? कल सुबह ही तो वे लोग रतन को देखने आ रहे हैं! कहिए, आप सहमत हैं न?"

"और उपाय भी क्या है, रतन की माँ?" मैंने कुछ गम्भीर हो कर कहा—"पर ऐसा करने से पहले तुम एक बार मुझ से पूछ लेतीं, तो ठीक था। बाद में इसमें कुछ क़ानूनी पेचीदगियाँ उठ सकती हैं; जिनका फल तुम्हारे, मेरे और रतन के लिए शायद अच्छा न हो।"

"यह सब मैं क्या जानूँ, बाबू!" हाथ जोड़ कर गिड़गिड़ाते हुए उसने कहा—"मैं न पढ़ी, न लिखी; भला क़ानून क्या जानूँ? पर इस समय मेरे सामने सबसे बड़ा सवाल है रतन के भविष्य का, जिसे सुरक्षित करने के लिए झूठ बोलना तो क्या, यदि मुझे बड़े-से-बड़े विश्वासघात या ख़ून तक भी करना पड़े तो मैं तनिक भी नहीं झिझकूँगी। मैं जीते-जी अपनी लड़की को नरक की उस भट्ठी में नहीं झोंक सकती, जिससे कि मेरा रोआँ-रोआँ जल रहा है। वह घिनौना दुर्गंधिमय जीवन!"

बात ठीक थी। एक विपथगा माँ की ममता और दायित्व की भावना की गहराई और उग्रता का पूरा ज़ोर था रतन की माँ की बात में! मैंने

कहा—"अच्छी बात है। मुझसे जो बन पड़ेगा, अवश्य करूँगा। पर यह बात अधिक लोगों तक न पहुँचे।"

"उस तरफ़ से आप निश्चिन्त रहें।" गद्‌गद् कण्ठ से रतन की माँ ने कहा—"आपको और कोई कष्ट मैं न दूँगी। मेरे पास जो भी ज़ेवर-कपड़े हैं, उन्हीं से सारा काम हो जायगा। आपके नाम और घर की ओट भर चाहिए।"

"अच्छी बात है। उस ओर से तुम एकदम निश्चिन्त रहो', मैंने कहा।

रतन की माँ ने सहसा झुक कर फिर मेरे पाँव छुए और बोली—"तुम्हारी हज़ारी उम्र हो, भैया। तुम ने मेरी लाज रख ली, रतन को बचा लिया। तो कल सुबह मैं रतन को लेकर यहाँ आ जाऊँगी।" यह कह कर उसने दोनों हाथ जोड़ कर नमस्कार किया और साड़ी के पल्ले से दोनों आँखें पोंछ कर चली गई।

मेरा दिल धुक्-धुक् कर रहा था।

\+ \+ \+

कई वर्ष बाद एक दिन देखा कि सामने के एक-मंज़िले मकान की धुलाई-पुताई हो रही है। सड़क की ओर वाली खिड़की के दोनों ओर दो रेशमी पर्दे लगाये गए और बीच में एक तेज़ रोशनी का बल्ब। काग़ज़ के फूलों और काँच के छोटे-छोटे हंडों की एक बंदनवार बाँधी गई। अभी मैं इन सब का कारण खोजने की असफल चेष्टा ही कर रहा था कि एक दिन उसमें सजी-धजी रतन की माँ को बैठा पाया। मैं अपनी आँखों पर विश्वास न कर सका। सुना था कि जवानी में रतन की माँ यहीं बैठती थी; पर अब तो उस बात को युग बीत चुके थे। उस म्रियमाण कंकाल में आज जवानी और ज़िन्दगी फिर लौट आए, यह विश्वास करने को जी नहीं होता था। कहीं मेरी आँखें धोखा तो नहीं दे रही हैं? मैंने चश्मा साफ़ किया और ज़रा ग़ौर से देखा—अरे, यह तो हू-ब-हू ठीक रतन की

माँ थी। खिड़की में बैठी वह वैसी ही लग रही थी जैसी कि फ्रेम में जड़ी उसकी जवानी की तस्वीर थी। पर यह भला कैसे हो सकता था? वह यदि होती, तो क्या मुझ से एक बार भी मिलने न आती!

मैंने आव देखा न ताव और चल पड़ा उसी तरफ़। धड़-धड़ कर जब मैं ऊपर पहुँचा और दरवाज़ा खटखटाया, तो उसने आकर द्वार खोला और पान से लाल होंठों से मन्द-मन्द मुस्कुराते हुए विनम्र स्वर में कहा—"आइए।"

मैं भीतर पहुँचा। आँखें चार होते ही उसका चेहरा कुम्हला-सा गया, होंठों की हँसी ग़ायब हो गई और एक चीख़ के साथ उसके मुँह से निकला—"बाबू जी! आप!!"

मैंने देखा, यह रतन थी, उसकी माँ नहीं। इन कुछ वर्षों में ही वह १३-१४ वर्ष की छोकरी ऐसी सुन्दर और सुडौल युवती बन जायगी, इसकी मैं शायद कल्पना भी नहीं कर सकता था। और न मैं उसके यहाँ आकर अपनी माँ का स्थान लेने की ही कल्पना कर सकता था। ऐसा लग रहा था मानो उस खिड़कीनुमा फ्रेम में से रतन की माँ का फोटो मैला-पुराना हो जाने पर निकाल कर उसी की नई प्रतिलिपि लगा दी गई हो। कितना अद्भुत साम्य था दोनों में। पर आख़िर रतन यहाँ कैसे आई, शादी के बाद क्या-क्या हुआ, इन बीच के वर्षों में वह कहाँ-कहाँ रही, आदि अनेक प्रश्न एक साथ मेरे दिमाग़ में कौंध-से गए। पर कुछ पूछने का साहस जैसे नहीं हो रहा था।

रतन की आँखों से आँसू बहने लगे। सुबकते हुए उसने कहा—"मैं बड़ी अभागिन हूँ, बाबूजी। आप और माँ मिल कर भी मुझे इस नरक में गिरने से रोक नहीं सके। कह नहीं सकती, इसमें दोष किसका है। जिसके साथ मेरा विवाह हुआ, बाद में पता लगा कि वह यहाँ का कोई बिगड़ा हुआ युवक है, जिसने दहेज़ के लोभ से मेरी तरह पता नहीं कितनी लड़कियों का जीवन नष्ट किया है। मेरे ज़ेवर-कपड़े बेच खाने के

बाद उसने मुझे निकाल दिया और बहाना यह बनाया—'तू रंडी की लड़की है। तेरी माँ और मामा ने धोखा देकर जो यह विवाह किया, उसके लिए मैं उन पर मुक़दमा चलाऊँगा।' पर ऐसा करने का साहस उसे शायद इसलिए नहीं हुआ कि वह स्वयं ५-६ लड़कियों से धोखा देकर विवाह जो कर चुका था। उसके बाद मुझे कितनों ने खराब किया और क्या-कुछ मुझे सहना-भुगतना पड़ा, वह सब कहने के लिए अभी न तो समय है और न साहस ही। समझ लीजिए कि माँ का स्थान लेने के लिए मुझे लगभग उसी के-से अनुभवों में से गुज़रना पड़ा। आज मैं उसी रास्ते पर हूँ, जिस पर चलना नहीं चाहती थी। पर ज़िन्दगी का यही तो एक रास्ता है, जिससे मैं थोड़ी-बहुत परिचित हूँ। और सब रास्ते तो मानो मुझ-जैसों के लिए हमेशा के लिए बन्द हैं।"

मेरी यह स्थिति थी मानो कल्पना-लोक में उड़ते-उड़ते सहसा किसी चट्टान से टकराकर नीचे आ गिरा होऊँ।

मुझे चुप देखकर रतन ने आँखें पोंछीं और सामने बिछे गद्दे की ओर इशारा करते हुए कहा—"तशरीफ़ रखिए। यों कब तक खड़े रहेंगे? मैं तो बैठने तक को कहना भूल गई, मूर्खा कहीं की।"

"नहीं, कोई बात नहीं", मैंने कहा—"हाँ, तुम्हारी माँ कहाँ है?"

इस बार रतन कुछ न बोली। उसकी आँखें फिर फ़र्श की तरफ़ झुक गईं और उनसे टप्-टप् आँसू गिरने लगे।

मैंने यह अनुमान कर कि शायद अब वह इस संसार में नहीं है, कहा—"चलो अफ़सोस करने की कोई बात नहीं। उसने तुम्हारे लिए क्या-कुछ नहीं किया? आख़िरी वक्त मुझे याद किया था क्या?"

धीरे-धीरे अपनी अश्रुपूर्ण आँखों को ऊपर उठाकर काँपती हुई आवाज़ में रतन ने कहा—"आप जैसा समझते हैं, वैसी बात नहीं है; यद्यपि बात उससे भी ज़्यादा ख़राब और चिन्ता की है।"

"सो क्या?"

"वह पागल हो गई है। इसी शहर में भटकती और माँगती-खाती फिरती है। मैंने लाख चेष्टा की उसे अपने पास रखने की; पर उसे रोक रखना मेरे बस की बात नहीं रही अब। मैंने उससे सब कुछ कहा भी नहीं। अक्सर वह अपने दामाद की बात पूछती है और मैं यह कहकर उसे भुलावा दे देती हूँ कि वे दिवाली पर आकर मुझे ले जायँगे। और जब तक दिवाली आयेगी, माँ को क्या यह सब याद रहेगा? और कौन जाने तब तक वह बचेगी भी या नहीं।"

इसी समय सीढ़ियों पर किसी के आने की आहट पा मैं बिना कुछ बोले ही चुपचाप नीचे उतर आया। देखा, एक शराबी बड़बड़ाता हुआ ऊपर चढ़ रहा था।

नीचे आकर मुझे ऐसा लगा मानो सड़क और उसके दोनों ओर के मकान-दूकानें तेज़ी से घूम रहे हैं।

# चाल-चलन

"माँ, माँ, देखो बाबूजी आ गये।"—नीचे से राजू चिल्लाया।

एक क्षण के लिए मालती के हाथ रुके और फिर जैसे वे और तेज़ी से चलने लगे। जिन सलाइयों से वह चुपचाप स्वेटर बुन रही थी, वे मानो किटकिटाने लगीं। घड़ी की सुई जैसे घण्टे के चिह्न पर रुक कर कुछ बजाती और दूसरे ही क्षण आगे बढ़ जाती है, वैसे ही मानो उसका हृदय भी एक लमहे के लिए रुक कर, उसकी सारी देह-यष्टि को कँपा कर, फिर तेज़ी से हरकत करने लगा। आँखें मानो हाथों पर टिकी रह कर भी ज़िन्दगी के किसी दूसरे ताने-बाने में उलझी थीं। कदाचित् इसीलिए देख कर भी अनदेखे में मालती ग़लत बुन गयी थी—कितने खाने छोड़ कर बुनना था, जैसे वह बिलकुल ही भूल गयी हो। झुँझला कर उसने सलाइयों और बुने हुए हिस्से को पलँग पर रख दिया और मन-ही-मन कहने लगी—"किसी काम में तो मन नहीं लगता। यह मन जाने कहाँ-कहाँ भटक जाता है। कुछ समझ में ही नहीं आता।"

इस समय उसने जीने पर चरमर कर आते हुए भारी पाँवों के जूतों के ऊपर चढ़ने का शब्द सुना। एक क्षण वह खोयी-सी बैठी रही। फिर सलाइयाँ और बुना हुआ हिस्सा उठा कर तेज़ी से बुनने लगी। उसकी गर्दन सलाइयों पर ज़रूरत से ज्यादा झुक गयी थीं और शायद आँखें भी कुछ भीग चली थीं।

परमेश्वरी बाबू कमरे के दरवाजे के पास आ कर रुके, एक क्षण वहाँ खड़े रह कर उन्होंने मालती का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट होने की प्रतीक्षा की और फिर वे कमरे में प्रवेश कर हाथ का पैकेट मालती के पास रखते हुए बोले—"ये दो रेशमी साड़ियाँ लाया हूँ तुम्हारे लिए। काश्मीर में ये बेहद सस्ती मिलीं।"

वाक्य पूरा कर वे चुप हो गये, पर मालती कुछ न बोली। न उसने उनकी ओर देखा, न साड़ियों के पैकेट की ओर ही। उसके हाथ की सलाइयाँ यंत्रवत् चलती रहीं और किसी मूर्त्ति की तरह उसकी गर्दन भी बिना हिले-डुले जहाँ की तहाँ ही रही। क्षण-भर के लिए मानो दो जीते-जागते प्राणियों को लेकर भी कमरा निर्जीवता की समाधि-सी बन गया था।

नारी की मौन उपेक्षा से बढ़ कर पुरुष के अहं के लिए अधिक मारक अस्त्र शायद ही और कोई हो। परमेश्वरी बाबू ने अपने-आप को न सिर्फ अपमानित ही महसूस किया, बल्कि वे बुरी तरह तिलमिला भी गये और दूसरा कोई उपाय न देख, तैश में आकर धड़धड़ाते हुए नीचे चले गये।

उनके जाते ही मालती ने बुनना बन्द कर सलाइयाँ पास में रख दीं और डबडबायी आँखों से पहले साड़ियों के पैकेट को और फिर उस द्वार को देखा, जिसके चौखट में से मानो किसी ने अर्से से लगी एक सुपरिचित तसवीर को निकाल लिया हो। उस तसवीर को, जो किसी दिन उसके मानस-पटल पर प्रेम, आशा, उल्लास, प्रेरणा और जीवन की सार्थकता का प्रतीक बन कर छायी थी। और आज...! आज मानो उसके सब रंग धुल कर साफ़ हो गये हों, सब विशेषण खो गये हों और वह वैसे ही रंग—अर्थहीन हो गये हों, जैसी कि उसकी यह शून्य दृष्टि, उसका सूना मानस और उसमें धुधुआती विश्लथ स्मृतियाँ। ज़िन्दगी भी न जाने क्या है? और प्रेम, पति, घर, सन्तान.....!

सहसा मालती का ध्यान भंग किया राजू ने आ कर। वह बिना छीले या काटे एक पूरा सेव दाँतों से ही काट-काट कर खा रहा था। उसे आता देख कर मालती ने अपनी आँखें पोंछीं और कुछ स्वस्थ होकर बैठ गयी। अभी उसने बुनने के लिए सलाइयों को उठाना ही चाहा था कि

राजू ने आकर बाधा देते हुए कहा—"बस माँ, अब मुझे स्वेटर नहीं चाहिए। बाबूजी मेरे लिए काश्मीर से एक ऐसा बढ़िया स्वेटर और गिलहरी की खाल का कोट लाये हैं कि कुछ न पूछो! और तुम्हारे लिए क्या लाये हैं माँ, जानती हो?"

मालती को कुछ सूझा नहीं। बोली—"बहुत लाये हैं; तुम्हें फिर सब बताऊँगी। अब स्कूल का समय हो रहा है, जल्दी से जाकर कपड़े बदल लो!" और फिर उसने साड़ी वाला पैकेट उठा कर राजू के हाथ में देते हुए कहा—"इसे अपने बाबूजी के कमरे में रख आओ।"

"अरे भाई वाह!" राजू ने सहज भाव से हँस कर कहा—"बाबूजी क्या साड़ी पहनते हैं, जो उनके कमरे में रख आऊँ इसे? यह तो तुम्हारे लिए है।"

"ज्यादा बक-बक मत करो राजू, समझे?" मालती ने ज़रा डपटने की आवाज में कहा, "मैं जो कह रही हूँ कि इसे उनके कमरे में रख आओ, जाओ!"

"अच्छा बाबा।" आँखें फाड़ कर बनावटी डर का-सा भाव दिखाते हुए राजू ने कहा—"जाता हूँ, रखे आता हूँ, रखे आता हूँ।" राजू जब पैकेट लेकर नीचे चला गया, तो मालती की आँखें फिर भर आयीं। न चाहने पर भी वह जैसे कुछ उत्तेजित हो उठी थी। उठ कर वह कमरे की पीछे की खिड़की के पास जा खड़ी हुई। खिड़की के जँगले के बाहर ही एक पीपल के पेड़ की शाख़ थी। उस पर लगे पत्ते सुबह की हवा में मन्थर गति से फरफरा रहे थे। उन्हें देख कर उसने अपने-आप से पूछा—"क्या मेरा मन भी इन्हीं पत्तों की तरह चंचल नहीं है? ये क्यों चंचल हैं, पता नहीं, पर मैं...ओह...मैं!" और जैसे उस सत्य का सामना करने में अपने-आप को असमर्थ पा कर वह पलंग के पास आकर रुक गयी। उसे ऐसा लगा जैसे उसके जीवन के अनेक सुख-स्वप्नों की यह मूक साक्षी शय्या आज एक बड़ा प्रश्नसूचक चिह्न बन कर समूचे कमरे

में फैल रही है। कभी वह आलमारी के शीशे के सामने रुक कर देखती—"कहाँ गया वह सारा सौन्दर्य, वह लावण्य ?" उसके सुहाग का सिन्दूर माँग के अगले भाग में एक गंज-सी छोड़ कर न जाने कब का धुल-पुत गया था। जिस नवोढ़ा रूपवती ने एक दिन अल्हड़पन से शीशे के सामने खड़े होकर बड़े अभिमान और चुनौती के स्वर में कहा था—"मैं अपनी प्रतिछबि से कहीं सुन्दर, स्वस्थ और सजीव हूँ।" वह मानो इस छोटे-से कमरे की चहारदीवारी में ही कहीं खो गयी थी। और एक प्रश्न-भरी दृष्टि से जब मालती ने बारी-बारी से कमरे की दीवारों और छत को निहारा, तो मानो एकबारगी काँप गयी। आज एक भव्य प्रासाद के खँडहर की तरह इस चहारदीवारी में उसके सिवा और कोई भी क़ैद न था!

—२—

दफ्तर से ज्यों ही परमेश्वरी बाबू घर पहुँचे तो देखा कि मालती एक पुरानी साड़ी पहने खिड़की के पास एक कुर्सी पर बैठी, कोई पुस्तक पढ़ रही है। उन्होंने पास पहुँच कर पुस्तक उसके हाथों से छीन ली और उखड़े स्वर में कहा—"पता है, अब कितने बजे हैं ?"

"नहीं।" खिड़की से बाहर देखते हुए मालती ने लापरवाही से कहा।

"याद नहीं, मैं सुबह क्या कह गया था ?"

"कहना था, सो आप कह गये, और मैंने सुन लिया। उसे मानना न मानना तो मेरा काम है न ?"

"तो तुम सरोज की शादी में नहीं चलोगी ?"

"नहीं।"

"भला तुम्हारे न जाने से वह और उसकी माँ बुरा न मानेंगी ?"

"मानें; दूसरों के भला-बुरा मानने का सोच कर कुछ करना अब मेरे वश की बात नहीं रह गयी है। मेरे न जाने का कारण जानना वे

जरूरी समझेंगी, तो कभी स्वयं आ कर मुझसे पूछ लेंगी। आपको उसके लिए परेशान होने की ज़रूरत नहीं।"

एक क्षण परमेश्वरी बाबू चुपचाप खड़े कुछ सोचते रहे। फिर बिना कुछ कहे-सुने नीचे चले गये। मालती का हृदय तेज़ी से धक्-धक् कर रहा था। रह-रह कर उसके मन में आता था कि जाकर इस विवाह को रुकवा दे, विवाह की ओट में होने वाले घोर अनाचार के इस नाटक में बाधा दे, पर जब सरोज और उसकी माँ राज़ी थीं, तो वह या और कोई कर ही क्या सकते थे?

सरोज एक ग़रीब बाप की इकलौती सन्तान है। उसका जब असमय ही देहान्त हो गया, तो उसकी माँ ने मेहनत-मजदूरी कर अपना और अपनी बेटी का भरण-पोषण करना चाहा। पर दुर्भाग्यवश जो स्त्री काफ़ी पढ़ी-लिखी न हो और सुन्दर भी हो, उसके लिए अपना शरीर बेचने के सिवा और जीविकोपार्जन का यहाँ साधन ही क्या है? सो सरोजकी माँ को भी एक सेठ, बुलाकीदास का आश्रय लेना पड़ा। सेठ के साझीदार होने के कारण परमेश्वरी बाबू भी इस 'मुफ्त के माल' के सम्पर्क में आये और फिर वय प्राप्त करने पर सरोज भी उनकी दुरभिसंधि का शिकार हुई। मालती से उन्हें छीनने का श्रेय सरोज को ही प्राप्त है। फिर जैसे-तैसे सरोज को अपने चंगुल में फँसाये रखने और उसकी माँ को सेठ के धन का लालच दिखा.कर उन्होंने खूसट सेठ से उसके विवाह का यह नाटक रचा था। जानते-बूझते मालती यह सब कैसे सह सकती थी? पर वह करे भी तो क्या?

इसी समय उसने किसी की उँगलियों का अपने पाँवों पर स्पर्श अनुभव किया और दाहिनी ओर मुड़ कर देखा तो अपनी पुरानी नौकरानी लक्ष्मी को झुक कर अपने पाँव छूते पाया! साश्चर्य वह पूछ ही तो बैठी, "अरे लछमी, तू कब आयी?"

"आज ही आयी, बहूजी।"

"रही तो मजे में न ?"

नकारात्मक रूप से अपना सिर हिला कर उदास मुद्रा में लछमी नीचे देखने लगी। मालती मानो इस उत्तर के लिए प्रस्तुत न थी। वह जानती थी कि जितना निरर्थक यह प्रश्न है, उतना ही निरर्थक इसका उत्तर भी होता है। पर प्रायः वह स्वीकारात्मक ही होता है। लछमी को गत कई वर्षों से उसने जितना जाना था, उससे स्पष्ट था कि वह बड़ी सरल और झूठ-कपट से सर्वथा अपरिचित है। उसने मालती से कभी भी अपनी कोई बात छिपायी नहीं थी। उसके उत्तर ने मालती को कुछ कुण्ठित कर दिया और वह पूछ बैठी—"क्यों, ऐसी भी क्या बात है ?"

लछमी ने कोई उत्तर नहीं दिया। मालती ने अपने हाथ से उसकी ठोड़ी पकड़ कर ज्यों ही उसका मुँह ऊपर उठाया, तो देखा कि उसकी आँखों से आँसू बह रहे हैं; लछमी की उन आँखों से, जिनमें शोख़पन और शरारत के सिवा उसने कभी उदासी या रोने की कोई भूमिका तक नहीं देखी थी। वह कुछ कहे, इसके पहले ही लछमी उसके घुटने पर सिर रख कर फफक-फफक कर रोने लगी। कुछ क्षण बाद रोते-रोते ही लछमी ने कहा—"बहूजी, अब मैं आपको छोड़ कर कहीं नहीं जाऊँगी। मुझे आप कभी भी अपने से दूर मत करना।"

मालती का जी भर आया। उसने उसके सिर पर हाथ फेरते हुए कहा—"मत जाना ! जब तक मैं यहाँ हूँ, इस घर का दरवाज़ा तेरे लिए हमेशा खुला रहेगा। पर पगली, यह तो बता कि आख़िर हुआ क्या ? तेरा पति तो ठीक है न !"

"उस पाजी का नाम न लीजिए, बहू जी।" अपनी ओढ़नी के पल्ले से आँसू पोंछते हुए लछमी ने कहा—"मुझसे तो यहाँ मीठी-मीठी बातें करता था और वहाँ जाने पर पता लगा कि उसने एक औरत पहले से ही रख छोड़ी है ! कुछ दिन तो उसने मुझे जैसे-तैसे रखा, फिर मेरे सब गहने-कपड़े बेच कर वह शराब पी गया और फिर मुझे मारने-पीटने

भी लगा। एक दिन वह बोला—"यहाँ रहेगी, तो मेरी पहली स्त्री की ख़िदमत करनी पड़ेगी। जैसे मैं उसकी घरवाली नहीं, कोई लौंडी-बाँदी हूँ!"

मालती जैसे सकते में आ गयी। कल ही तो हँसी-खुशी से शादी हुई थी इस लछमी की और आज ही यह.....। पूछा—"तो फिर तूने क्या तय किया है?"

"तय क्या करना था, बहूजी, मैं भला वहाँ कैसे रहती? फिर सौत तो मिट्टी की भी बुरी होती है। औरत को जब तक पति का प्यार न मिले, उसका जीना ही बेकार है। रोटी-कपड़े की तो मुझे यहाँ भी क्या कमी है?"

ये शब्द तीर की तरह मालती को बेध गये। उसे ऐसा लगा कि पढ़-लिख कर भी वह जिस समस्या को जीवन की गुत्थी बना कर स्वयं उसमें बुरी तरह उलझ रही थी, उसे लछमी-जैसी अपढ़ और गँवार स्त्री ने किस आसानी से सुलझा लिया। 'औरतों को जब तक पति का प्यार' इन शब्दों में जैसे उस अपढ़ और गँवार लछमी के मुँह से आज नारी का आत्माभिमान सहज अभिव्यक्ति पा गया हो। और शायद जो बेचारी खुद इस कथन का अर्थ, महत्त्व या गुरुत्व तनिक भी न समझती होगी! उसकी आँखों से टप् टप् आँसू गिरने लगे।

मालती के आँसू देख कर लछमी बिलख उठी—"अरे, यह क्या बहू जी? आप अपना मन ख़राब न करें। मेरे भाग्य में जो लिखा था, सो हो गया। अब उसके लिए पछताना क्या? आप से तो मैं दो रोटी और बित्ता भर जगह की भीख माँगने आयी हूँ। और मेरा अब इस दुनिया में है कौन?"

मालती ने अपने आँसू पोछे और फिर गला साफ़ कर कहा—"वह तेरे लिए हमेशा तैयार है लछमी। तू आज से ही काम शुरू कर सकती है।"

लछमी ने मालती के दोनों पाँव फिर पकड़ लिये गद्‌गद् स्वर में वह बोली—"मालिक आपका भला करे, बहूजी ! आप नित दूधों नहाओ, पूतों फलो ! अच्छा तो मैं जा कर कपड़े-लत्ते ले आती हूँ।"

"हाँ, ले आ ! तेरी कोठरी भी खाली है। ज़रा झाड़-बुहार कर साफ़ कर लेना उसे।" कहते हुए मालती कुर्सी पर से उठ खड़ी हुई। लछमी तेजी से क़दम बढ़ाती हुई नीचे चली गयी।

—३—

साथ रह कर लछमी को मालती की असली वस्तुस्थिति समझने में देर नहीं लगी। पर स्वयं मालती से कुछ पूछने का उसे साहस नहीं होता था। कभी शाम को वह आ कर उससे कहती—"अब आपको तो बाबूजी के साथ सिनेमा या बाहर घूमने जाना होगा, मैं तब तक ज़रा बाज़ार ही हो आऊँ।" यद्यपि वह भली भाँति जानती थी कि जब से वह आयी है, एक भी ऐसा अवसर नहीं आया, जब मालती और परमेश्वरी बाबू ने शाम साथ बितायी हो। अपने आने के बाद उसने कभी मालती और परमेश्वरी बाबू को बात करते नहीं देखा। दोनों की संक्षिप्त-सी बातचीत अब राजीव के मारफ़त ही होती थी। जब कभी कुछ कहना या पुछवाना होता, तो परमेश्वरी बाबू राजीव को बुला कर कहते— "जाओ, अपनी माँ से यह कह या पूछ आओ।" और इसके उत्तर में मालती कहती, "अपने बाबूजी से जा कर कहो, मैं कुछ नहीं जानती, जैसी उनकी मर्जी हो, वैसा करें।" एक-आध बार बड़ा साहस जुटा कर इस नाटक में बाधा देते हुए लछमी विनोद-भाव से सिर्फ़ इतना भर पूछ लेती—"क्यों बहू जी, क्या एम० ए० तक पढ़ कर भी आप सचमुच कुछ नहीं जानतीं ?" और उसे एक झिड़की के साथ मालती से उत्तर मिलता—"जा, अपना काम कर, ज़्यादा ज़बान नहीं चलानी चाहिए।" और बेचारी लछमी चुपचाप उसके सामने से हट जाती।

लछमी चुप रहना चाहती, पर उसका मन नहीं मानता था। मालती

से उसका रिश्ता केवल नौकरानी और मालकिन का ही नहीं था, दो साथियों का भी हो गया था—और वह भी काफ़ी घनिष्ठ। अपढ़ और गँवार होने के कारण लछमी कह कर यह व्यक्त नहीं कर सकती थी कि वह मालती को कितना चाहती है, उसे कितना प्यार और आदर करती है। उसका मन ऐसा हो चला था कि मालती के दुःख और उदासी का समान अनुभव और सवेदन उसे भी होता था! मालती की पीड़ा उसके मन को इस बुरी तरह मथ रही थी कि उससे अब और सहा जाना मुश्किल हो रहा था। वह रोज़ कोई ऐसा मौक़ा ढूँढ़ रही थी, जब वह मालती से अपने मन की सारी बातें स्पष्ट कह दे और उसके संकट का अन्त करने में सहायक हो। पर उस बेचारी को कोई रास्ता ही नहीं दिखाई पड़ता था। अतः रोज़ सुबह उठ कर वह कुछ कहने का निश्चय करती और फिर विफल हो कर उसे अगले दिन पर ठेल देती।

एक रात जब वह मालती के कमरे के बाहर सोयी थी, तो घण्टों करवट बदलने के बावजूद उसे नींद नहीं आयी। आख़िर वह उठ बैठी और तय किया कि जो भी हो, आज वह मालती से साफ़-साफ़ बातें करेगी—पर, कब? क्या अभी? हाँ, इसी वक़्त बात करनी ठीक होगी। शायद वह सोयी हो! अच्छा देखूँ तो सही। और उठ कर उसने मालती के कमरे की बिजली जलायी। देखा, वह जाग रही है और उसकी आँखों से अजस्र बह रही अश्रु-धारा ने उसके तकिये का काफ़ी हिस्सा गीला कर दिया है। लछमी ने मालती के सिर के पास मुँह ले जा कर कहा—"अगर तुम्हें इस तरह रिस-रिस कर मारना है, तो पहले मुझे ज़हर दे दो। मुझसे तुम्हारी यह हालत देखी नहीं जाती।"

मालती एकबारगी जैसे सकते में आ गयी। उसकी स्थिति इस समय वैसी ही थी, जैसी कि चोरी करते हुए पकड़े जाने पर चोर की हुआ करती है। उसके मुँह से कोई शब्द न निकला। दोनों बाहें फैला कर उसने लछमी को गले लगा लिया और फफक-फफक कर रोने लगी।

कुछ देर बाद स्वस्थ हो कर मालती उठ बैठी और अपने बराबर पलंग पर लछमी को बैठाते हुए बोली—"बहन, तू मेरे लिए कितना बड़ा सहारा और प्रेरणा बन गयी है, यह कह कर नहीं बता सकती। और अगर बताऊँ भी, तो शायद तू समझ ही न पायेगी। पर सुन, जब तू सब कुछ जानती है, तो तुझसे एक बात आज खोल कर कहती हूँ। पराये टुकड़ों पर कुत्ते की-सी ज़िन्दगी बिताना अब मुझसे न होगा। तूने आ कर मेरे नारीत्व के सोये और खोये हुए स्वाभिमान को जगा दिया है। मैंने निश्चय किया है कि यहाँ की 'हितकारिणी पाठशाला' में जो एक अध्यापिका की जगह ख़ाली हुई है, उस जगह काम करने के लिए प्रार्थना-पत्र भेजूँ और काम मिलने पर अपने पाँवों पर खड़ी होऊँ। तू तो मेरे साथ रहेगी न?"

"वाह बहूजी, यह भी कोई पूछने की बात है? अब मेरा है ही कौन, जो चली जाऊँगी।"

"शायद तू फिर कहीं शादी कर ले...?"

"बस, बस बहू जी, ऐसी बात मुँह से न निकालिए। मरद की जात ही बेईमान और बदमाश होती है। मैं अब कभी भी...।"

"अच्छा, अच्छा!" ज़रा फीकी-सी मुसकराहट के साथ मालती ने कहा—"तू कल जा कर मेरा प्रार्थना-पत्र स्कूल के दफ्तर में दे आना। पर देख, किसीको भी कानों-कान अभी इसकी ख़बर नहीं होनी चाहिए।"

"आप विश्वास रखिए, किसी को भी ख़बर न होगी।" निचले होंठ में बल देकर लछमी ने कहा और पलंग पर से उठते हुए बोली—"अच्छा अब आप सोइए, मैं भी जा कर सोती हूँ।"

दूसरे दिन मालती ने प्रार्थना-पत्र भिजवा दिया और उत्सुकता से उत्तर की प्रतीक्षा करने लगी। अलग रहने के लिए उसने चुपके-चुपके मकान की खोज भी शुरू कर दी! परन्तु पग-पग पर उसे यह कटु अनुभव

होने लगा कि किसी पुरुष-साथी या सहायक के बिना लोग उसे सन्देह की दृष्टि से देखते हैं। पर उसने इसकी विशेष परवाह नहीं की, क्योंकि उसे सचाई और अपने-आप पर विश्वास था।

आख़िर एक दिन उसे अपने प्रार्थना-पत्र के उत्तर में 'हितकारिणी पाठशाला' की कार्यकारिणी समिति के मन्त्री का पत्र मिला, जिसमें शनिवार को तीसरे पहर साढ़े तीन बजे इन्टरव्यू के लिए आने को लिखा था। यद्यपि इस सूचना में जगह मिलने का कोई संकेत या आश्वासन नहीं था, फिर भी मालती का मन बल्लियों उछलने लगा। उसे मानो अँधेरे में प्रकाश की एक रुपहली रेखा दिखाई दी! उसके आत्मविश्वास को मानो अतिरिक्त बल मिला। अब वह अपने पाँवों पर खड़ी हो सकेगी, इस विचार ने उसके सारे शरीर में मानो बिजली-सी भर दी और वह खुशी से खिल उठी।

नियत समय पर वह विद्यालय पहुँची। एक कमरे के बाहर बरामदे में पड़ी कुर्सियों पर कई स्त्रियाँ बैठी थीं, जो संभवतः इन्टरव्यू के लिए ही आयी थीं। क्लर्क ने आ कर मालती से नाम पूछा और एक कुर्सी की ओर इशारा करते हुए वह बोला—"आप यहाँ बैठिए, आपकी बारी आने पर आपको बुला लिया जाएगा।"

वह बैठ गयी, कमरे के दरवाज़े पर एक हरे रंग की चिक पड़ी थी और भीतर कुछ लोगों के बातचीत करने की आवाज़ आ रही थी। आवाज़ भारी होने के कारण सभापति सेठ बुलाकीदास की आवाज़, जिन्होंने बुढ़ापे में सरोज से दूसरी शादी की थी, बाहर तक सुनाई पड़ रही थी।

एक-एक कर बाहर प्रतीक्षा करने वाली महिलाओं को बुला कर प्रश्न पूछे जाने लगे। मालती का नम्बर शायद सबसे पीछे था। अतः जब सब चली गयीं और उसकी बुलाहट न हुई, तो कुछ चिन्ता और कुछ

क्षोभ से वह बे-सब्र हो उठी। वह चिक के पास ही कमरे के बाहर पड़ी कुर्सी पर जा बैठी और कान लगा कर भीतर होने वाली बातचीत सुनने लगी। सेठ बुलाकीदास किसी से पूछ रहे थे—"तो ठीक है, पर आपको उसके चाल-चलन के बारे में क्या कुछ मालूम है ?"

इसके उत्तर में एक व्यक्ति कहने लगा—"जी नहीं, मुझे खुद तो कुछ ख़ास नहीं मालूम, पर जब उसके पति ने उसे छोड़ रखा है, तो कुछ न कुछ गड़बड़ तो ज़रूर ही होगी।"

किसी ने व्यंग्य किया—"अरे साहब, आजकल की पढ़ी-लिखी लड़कियों के चाल-चलन की भली कही।"

एक अन्य व्यक्ति बोला—"अगर परमेश्वरी बाबू ही शक करते हैं, तब तो मालती देवी को रखना ठीक न होगा। इसका लड़कियों पर अच्छा असर नहीं पड़ेगा।"

सेठ बुलाकीदास बोले—"कमेटी को इस बारे में खूब सोच-समझ कर ही निर्णय करना चाहिए, क्योंकि आख़िर यह लड़कियों के भविष्य का सवाल है।"

"इसमें सोचना क्या है, सेठ जी ?" एक व्यक्ति कहने लगा—"जिसका अपना चाल-चलन ही गड़बड़ हो, वह भला लड़कियों को सतीत्व और सच्चरित्रता की शिक्षा क्या ख़ाक देगी ?"

"फिर ऐसी अध्यापिका रखने का लड़कियों के कोमल मस्तिष्क पर क्या असर पड़ेगा, यह तो हमारे ही समझने की बात है।" एक अन्य व्यक्ति ने कहा।

"तब फिर उससे पूछ-ताछ करने से फ़ायदा ही क्या ?" एक व्यक्ति ने कहा।

"पर साहब, जब उस बेचारी को इन्टरव्यू के लिए बुलाया है और

वह काफ़ी देर से बाहर बैठी प्रतीक्षा कर रही है, तो टालने के लिए भी उसे कुछ कहना तो ज़रूरी है।"—दूसरा व्यक्ति बोला।

"अच्छा तो उसे बुलवा लिया जाय; और रायसाहब, आप ही ज़रा उससे बात करें।"—सेठ बुलाकीदास ने कहा।

इशारा पा कर जब क्लर्क मालती को बुलाने बाहर आया, तो देखा कि वह वहाँ से जा चुकी थी। इस शुभ संवाद को पाकर सारी कमेटी ने जैसे एक संतोष की साँस ली।

# बुझती लौ

प्रमोद ने मोटर स्टार्ट कर दी थी। अंजना ने पिछली सीट का दरवाजा खोला और सहसा मेरी ओर मुड़ कर कहा—"तो कल शाम को चाय हमारे यहाँ ही पीजिए। आपको और कहीं जाना तो नहीं है न? तो कहिए, आइयेगा न? अच्छा तो पक्का रहा। जरूर! आपसे बहुत-बहुत बातें करनी हैं। आपसे मिले भी तो एक युग हुआ।"

मैं कुछ सोचूँ, कहूँ, उससे पहले ही मुँह से अनायास निकल गया—"हाँ, हाँ, जरूर। भला आप बुलायें और मैं न आऊँ?"

"बस, यह औपचारिकता रहने दीजिए।" जरा मुँह बना कर अंजना ने कहा—"मैं खूब जानती हूँ आपको! वादा करके भूल जाना कोई आपसे सीखे!"

"यह भी ठीक कहा आपने। किसी हद तक यह सच भी है, क्योंकि अगर आपका निमन्त्रण और अपना वादा याद रहा और उस वक्त आने का मूड हुआ, तब तो जरूर चला आऊँगा, वर्ना....."

"वर्ना-अर्ना मैं कुछ नहीं जानती। आना होगा आपको, जरूर। कहें तो गाड़ी भिजवा दूँ।"

मैं कुछ कहूँ इससे पहले ही प्रमोद बीच में कूद पड़ा और अंजना की ओर मुखातिब होकर जरा रुखाई के साथ डपटने के स्वर में बोला—"तुम्हें बैठना है या नहीं? अगर अभी बातें करने से जी भरा न हो, तो कुछ देर ठहर जाओ न। मैं घर जाकर गाड़ी भेज दूँगा।"

अंजना एकबारगी कट-सी गई। उसे यह भाँपते देर न लगी कि प्रमोद को उसका मुझसे इस आजादी और बेतकल्लुफी के साथ बातें करना अच्छा नहीं लग रहा है—यद्यपि प्रमोद बनता था बाईसवीं सदी

का युवक ! एक क्षुब्ध-दृष्टि उसने पति पर डाली और फिर एक विषाद-भरी, फीकी और कृत्रिम मुस्कराहट के साथ मेरी ओर देख कर कहा—"अच्छा, नमस्कार। तो कल चार और पाँच बजे के बीच मैं आपका इन्तजार करूँगी। देखिए इस बार गड़बड़ी नहीं होनी चाहिए।"

और मैं कुछ कहूँ, इससे पहले ही—शायद इस डर से कि उसका पति नामधारी जन्तु फिर कहीं बिगड़ न उठे—बिना मेरे उत्तर की सामान्य शिष्ट प्रतीक्षा किये ही अंजना झुक कर मोटर में जा पिछली सीट पर बैठ गई।

आज अंजना को कोई ५ वर्ष बाद देखा था—और उसे देखने के साथ ही जैसे विस्मृतियों के गर्त्त में दबा पड़ा स्मृतियो का एक गुबार-सा दिमाग में उठ खड़ा हुआ था। कहाँ पाँच वर्ष पहले की वह सीधी-सादी संकोचशील और छुई-मुई-सी छोकरी अंजू और कहाँ यह आज की आधुनिकतम फैशन की नारी—मिसेज अंजना शर्मा, एम० ए०, और मजे की बात तो यह कि एकाध बार जब मेरे मुँह से पुराने अभ्यास के कारण मिसेज अंजना शर्मा की जगह 'अंजू' और आप की जगह 'तुम' निकल गया, तो मिस्टर प्रमोद कुमार शर्मा के तेवरों में बल पड़ गये और उन्होंने पति के अधिकार-सुलभ अहम् और दर्प के साथ मेरी ओर देखा भी—मानो मुझे ताड़ना दे रहे हों कि मेरी मिल्कियत में तुम्हारी यह गुस्ताख दस्तन्दाजी बर्दाश्त नहीं की जायगी ! फलतः मैंने अपने आपको सुधारा-सम्हाला। कालेज जीवन में हम दोनों न सिर्फ घनिष्ठ मित्र ही थे, बल्कि एक दूसरे के इतने निकट थे कि समाज के सदाचार का ठेका जिन्होंने लिया है, वे न सिर्फ हम दोनों पर सन्देह ही करते थे, बल्कि छुप-छुप कर हमें देखने और हमारी बातें सुनने में उनमें आपस में होड़-सी भी लगी रहती थी।

हम दोनों ने एक-दूसरे से कभी कोई बहुत व्यक्तिगत बात नहीं की। दोनों ने ही शायद भविष्य के बारे में कभी कुछ नहीं सोचा। जब कभी

मैं अंजना के यहाँ जाता, उसके पिता मुझे देख कर बहुत खुश नहीं होते। मेरे नमस्कार का उत्तर भी वे प्रायः अन्यमनस्क-से हो कर ही देते थे। जिस दिन अंजना ने मेरा उनसे परिचय कराया, उन्हें जैसे बहुत खुशी नहीं हुई। फिर जब एक दिन उसने एम० ए० में अपने पास होने की बात उनसे कही, तो वे बाग-बाग हो गए; पर जब उसके बाद कहा कि मैं समूचे विश्वविद्यालय में सर्वप्रथम आया हूँ और उसे मेरी इस सफलता पर गर्व है, तो उनके मुँह से खुशी या बधाई का एक शब्द भी नहीं निकला। मुझे यह बात जरा खटकी—इसलिए नहीं कि मैं उनकी प्रशंसा या बधाई का भूखा था, बल्कि इसलिए कि मैं उन्हें पितृतुल्य मानता था और उनमें सहज शिष्टता एवं सौजन्य की यह कमी मुझे बुरी लगी। उस दिन अंजना भी उनके इस व्यवहार से खिन्न नजर आई। मैंने जब उससे कहा कि शायद तुम्हारे पिता नहीं चाहते कि मैं तुम से मिलूँ-जुलूँ, तो उसने हँस कर कह दिया—"पागल न बनो; पिता जी को इतने जल्द नहीं समझा जा सकता।"

इसके बाद मैं नौकरी के सिलसिले में बम्बई चला आया और अंजना से सिर्फ पत्रों का संपर्क ही रह गया। धीरे-धीरे पत्रों का सिलसिला ढीला होने लगा। हफ्ते में २-३ की जगह महीने-चालीस दिन में कहीं एक पत्र आने लगा और फिर वह भी बन्द हो गया। कुछ दिनों बाद किसी ने बताया कि अंजना के पिता ने उसका विवाह नगर के प्रसिद्ध व्यवसायी और जमींदार पण्डित गिरधारीलाल के सुपुत्र प्रमोदकुमार के साथ कर दिया है। इसका मेरे मन पर कैसा आघात लगा, कह नहीं सकता। पर इससे भी अधिक आघात लगा यह जान कर कि प्रमोद नम्बरी लम्पट और लोफर है तथा उसकी पहली स्त्री भी जीवित है!.....और आज अंजना दो बच्चों की माँ है—हाँ माँ, क्योंकि हर मादा को माँ होना ही पड़ता है.....पर अब क्या धरा है इन बातों में।

× × ×

आँख खुली तो देखा कि घड़ी पाँच बजा रही है। गर्मी के कारण नींद भी खूब आई थी। पर हजार नींद आये, अंजना देवी का चाय का निमन्त्रण भुलाये भी नहीं भूल सकता था। सो जल्दी से हाथ-मुँह धोकर कपड़े बदले और चल पड़ा उनकी तरफ।

धनियों के मुहल्ले में उनकी साफ-सुथरी कोठी मानो खुद अपना नाम बता रही थी, यद्यपि पहले कभी न जाने के कारण मुझे नम्बर और नाम देख कर ही उसे पहचानना पड़ा। भीतर प्रवेश करते ही पहरेदार ने मुझे कुछ ऐसे देखा मानो कोई चोर या उचक्का तो नहीं घुसा जा रहा है! पर मैंने उसकी ओर कोई विशेष ध्यान नहीं दिया और ऐसा कोठी में चला गया मानो सब कुछ मेरा पहले का देखा हुआ है। अभी मैं काठ की सीढ़ियों पर लगे कार्पेट की डिजाईन देखता हुआ ऊपर चढ़ ही रहा था कि सीढ़ियों के अन्त पर के दरवाजे पर टँगे पर्दे को हटा कर अंजना बाहर आई और मुस्कुरा कर बोली—"चलिए धन्य भाग्य, जो आपको एन्गेजमेंट याद तो रहा! मुझे तो आशा कम ही थी कि आप आयेंगे। पहले भी तो पचासों वादे कर चुके हैं न!"

"बात तो ठीक है"—तेजी से ऊपर जाते हुए मैंने कहा—"मगर यह धन्यभाग्य किसके? मेरे या आपके?" जरा मज़ाक में मैंने कहा।

अंजना कुछ लजा-सी गई और सकुचा कर बोली—"दोनों के! क्यों, आप यहाँ आने में अपना दुर्भाग्य समझते हैं क्या?"

"बिल्कुल दुर्भाग्य तो नहीं; पर हाँ, सौभाग्य भी नहीं समझता।"

गर्दन को जरा पीछे की ओर मरोड़ कर कनखियों से मेरी ओर देखते हुए अंजना ने कहा—"आपकी विनोद करने की आदत अभी गई नहीं है?"

"नहीं, एकदम चली गई है, पर आज आपको देख कर न जाने कैसे फिर मैं अपने पुराने मूड में आ गया।"

"जहे किस्मत !"—अंजना कुछ मुस्करा दी और बोली—"लेकिन ईश्वर के लिए अब मुझे अंजना देवी और 'आप' न कहें। जाने कानों को कैसा क्या लगता है ! क्या सिर्फ अंजना या अंजू कहते शर्म आती है ?"

"यह तुम क्या कह रही हो, अंजना ! शर्म मुझे भला क्यों आयेगी ? वर्षों के जिस संबंधों ने मुझे तुम्हें 'अंजू' कहने का जो अधिकार दिया था, हठात् तुमने मुझसे वह जो छीन लिया है। अब किस मुँह से तुम्हें 'अंजू' कहूँ ? मेरे और तुम्हारे बीच यह जो 'मिसेज शर्मा' की भारी भरकम दीवार उठ खड़ी हुई है, उसके रहते आज पुराने संबंधों का कोई अर्थ है, अंजना देवी ?"

अंजना कट-सी गयी। उसके होंठ काँप कर रह गये, मानों कुछ कहना चाहती हो; पर कहा उसने कुछ नहीं।

हम लोग बरामदे में आ गये थे। देखा, एक बड़ी मेज पर बढ़िया कसीदे का एक सुन्दर और साफ मेजपोश बिछा है, जिस पर बड़े करीने से चाय का सामान, प्लेटें आदि सजा कर रखे गये हैं। एक कुर्सी पर स्वयं बैठते और दूसरी की ओर संकेत कर उसने मुझसे कहा—"बैठिए।"

मैं बैठ गया और अंजना चाय बनाने में व्यस्त हो गई। चाय का प्याला मेरी ओर बढ़ा कर उसने मिठाई की प्लेट उठाई और उसे मेरे सामने रख दिया। मैंने उसे उसी की ओर सरका दिया और बोला कुछ नहीं।

कुछ खीजकर अंजना ने कहा—"लीजिए, कुछ खाइये न। मुझे परेशान कर रहे हैं, नाहक ?"

"मैं और आपको परेशान कर रहा हूँ !"—मैंने जरा बेतकल्लुफ़ी से कहा—"लेकिन सच मानिए, ये चीजें तो मैं बाजार में कहीं भी बैठ

कर खा सकता हूँ। यहाँ चाय पीने के मानी मैंने तो यह समझा था कि शायद आप कुछ बातें करना चाहती हैं; पर देखता हूँ कि आप तो मौन हैं! फिर भला आप ही बताइए कि···"

"बस, बस, रहने दीजिए"—बीच ही में बात काट कर अंजना बोली—"मैंने भी आपसे कुछ बातें करने को ही आप को यह कष्ट दिया; वर्ना क्या मैं नहीं जानती थी कि बम्बई में चाय, मिठाई की दुकानें और रेस्तराँ की कमी नहीं है।" और फिर कुछ स्थिर होकर कहा—"आखिर आप मुझे क्यों इस तरह तंग करने पर तुले हुए हैं? इतने दिनों से मैं यहाँ हूँ, पर आप वादा करके भी कभी नहीं आये; क्यों? सुना है आपने अभी तक शादी नहीं की है, क्यों? यह सब क्या आपने···"

"हाँ, यह सब मैंने तुम्हें तंग या परेशान करने के लिए हर्गिज नहीं किया है। और यह कैसे कहूँ कि मैंने कुछ किया या नहीं किया; समझ लो बस कि मूड ही नहीं हुआ। और अंजना तुम जैसी मनोविज्ञानवेत्री को भी क्या इन प्रश्नों का उत्तर देने की आवश्यकता है? यह बनना कब से सीखा तुमने?"

मिठाई की प्लेट फिर मेरे सामने रखते हुए अंजना ने कहा—"अच्छी बात है, मैं तो बन रही हूँ और आप?"

"मैं? मैंने अभी कहा ही क्या है?"

"तो कुछ इरशाद कीजिए।"

"जी नहीं, शुक्रिया। मैं तो सिर्फ कुछ सुनने आया हूँ।"

अंजना ने प्लेट में से एक मिठाई उठा कर मेरे मुँह के पास लाते हुए कहा—"यह खानी ही पड़ेगी; मेरी कसम है। अब बनना छोड़ो।"

मैंने मिठाई उसके हाथ से लेकर प्लेट में रखते हुए कहा—"नहीं, मैं कुछ नहीं खाऊँगा। अगर भूख होती, तब भी न खाता। तुम जैसी औरत की कसम, बात, प्रेम और यह दिखावा! 'अ' से प्रेम करो, फिर 'ब'

से शादी करो अब तब 'स' से कहो कि मैं जीवन में सुखी और सन्तुष्ट नहीं !"

"बस कीजिए। सहनशीलता की भी एक सीमा होती है। आप मेरे घर में आकर मेरा ही अपमान कर रहे हैं !"

"ओह, तो तुम्हारे घर में आकर सच बोलने पर भी कंट्रोल है ! मेरी इस स्पष्टवादिता को तुम अपना अपमान समझती हो ? गोया मान-सम्मान का यह ज्ञान है तुम्हें ?"

सहसा मैं चुप हो गया। देखा, मेरा स्वर कुछ अधिक रूखा, तीखा और व्यंग्यपूर्ण हो गया था। उत्तर के बजाय अंजना की आँखें भर आई थीं और धीरे-धीरे उसका सिर झुक गया था। मैने उसका हाथ अपने हाथ में लेकर कहा—"माफी और खेद प्रकट करने की बात मेरे गले तक आकर रुक जाती है अंजना ! कैसे कहूँ कि मैं यह धृष्टता कर रहा हूँ और तुम मुझे माफ कर दो ? और यदि मैं तुम्हें खुश करने के लिए ऐसा कहूँ भी तो वह झूठ होगा, सरासर कपट; क्योंकि दरअसल तुमने मुझे कहीं का भी नहीं रखा है, मेरा जीवन नष्ट कर दिया है और इससे बड़ा गिला तुमसे मुझे यह है कि तुमने अपने आपको भी कहीं का नहीं रखा है, अपना जीवन भी नष्ट कर दिया है।

मेरे हाथ में से अपना हाथ छुड़ाते हुए अंजना ने भरे हुए गले से कहा—"क्या जीवन में किसी से भूल नहीं होती ? क्या उसका कोई हल या प्रायश्चित्त नहीं ?"

"हो सकता है; पर अब यह सोचना आपका काम है। मैंने जिसे एक दिन अपने हृदय की देवी बनाया था, वह अंजना तो कभी की मर चुकी।"

"आप इतने कटु, क्रूर और निर्दयी कब से हो गये ?"

"यह अपने आपसे पूछिए, मिसेज प्रमोद !"

सहसा अंजना उठ खड़ी हुई और कुछ उखड़े, रूखे तथा कड़े स्वर

में बोली—"अच्छी बात है ; तो मुझे मेरे भाग्य पर ही छोड़ दीजिए। आज यहाँ आकर और कुछ न खाकर आपने मुझ पर जो कृपा, कष्ट एवं एहसान किये हैं उनके लिए अनेक धन्यवाद । अच्छा तो नमस्ते।" और वह मेरी ओर पीठ करके रेलिंग के सहारे बरामदे में सामने का समुद्र देखने लगी। अन्तिम शब्द अंजना के मुँह से इस तरह निकला था मानों गोली निकली हो, जिसका अर्थ स्पष्ट था। अतः मैं उससे बिना कुछ कहे ही चुपचाप उठ कर वहाँ से चला आया।

× × ×

फिर अंजना कमरे में जाने के लिए मुड़ी, तो देखा कि चाय की मेज पर दोनों पाँव रखे और कुर्सी पर अधलेटे प्रमोद सिगरेट पीकर धुएँ के गोले निकाल रहा है। अंजना को अपनी ओर बढ़ते देख उसने कहा—"अगर तकलीफ न हो, तो एक कप चाय हमें भी मिल जाय। जाने कब से इन्तजार हो रहा है !"

अंजना कुछ सकपका-सी गई। बोली—"आप कब आ गये ? मुझे पुकारा क्यों नहीं ? क्या आज आपको···"

"हाँ, जाना था मगर नहीं गया।"—बीच ही में बात काट कर प्रमोद ने कहा—"सोचा, खुद तो जिन्दगी में किसी से प्रेम किया नहीं, न किसी ने अपने राम को ही किया, चलो, आज दो पुराने प्रेमियों का खेल ही देखा जाय।"

अंजना कुछ आवेश में आ गयी—"तो आप चोर की तरह छिप कर हमारी बातें सुन रहे थे ?"

"चोर की तरह नहीं, मेम साहब, एक शरीफ पर अभागे पति की तरह !"

अंजना ने अपना निचला होंठ काट लिया और खंभे का सहारा लेकर खड़ी हो गई। अभी वह एक उलझन से ही निकल नहीं पाई

थी कि यह एक नयी और तैयार थी ! उसका दिमाग जैसे फटने को होने लगा।

उसे चुप देख कर प्रमोद ने लापरवाही से एक ठंडी साँस लेकर कहा —"तो चले गये, प्रेमी जी ?"

अंजना क्षुब्ध किन्तु चुप रही।

प्रमोद कुर्सी से उठ खड़ा हुआ और बरामदे में टहलने लगा। फिर बोला—"बड़ा जालिम आदमी है ! औरत के आँसू तक कम्बख्त को पिघला नहीं सके !"

कुछ देर बाद प्रमोद ने बरामदे की बत्ती जला दी और अंजना के पास जा एक कुर्सी खींच कर उसके सामने करते हुए बोला—"बैठो, खड़े-खड़े थक जाओगी। आज तुमसे कुछ बातें करनी हैं।"

चित्र-खचित-सी खंभे के सहारे खड़ी अंजना की आँखों से आँसू बह चले। एक क्षण प्रमोद ने उसकी ओर देखा, फिर हाथ पकड़ कर उसे कुर्सी पर बिठाते हुए कहा—"ये आँसू भी आज तुम्हारी मदद नहीं कर सकेंगे, अंजना। असहाय और पीड़ित अबला की आँखो के आँसू शायद पत्थर को भी पिघला दें; पर तुम जैसी एम० ए० पास आधुनिक युग की एक दुर्बल-हृदया अनिश्चित और छिछले दिमाग की युवती के ये आँसू जिसने तीन-तीन जीवन नष्ट किये हैं—किस मर्ज की दवा है ? किस दुःख और पीड़ा के प्रतीक हैं तुम्हारे ये आँसू। आज तो तुम इनसे भी अधिक करुण और दयनीय हो।"

अंजना कुछ न बोली। मूर्ति बनी कुर्सी पर बैठी रही। उसकी आँखों से आँसू निरन्तर बहते रहे। प्रमोद ने दूसरी कुर्सी खींच कर उसके सामने बैठते हुए कहा—"अंजना, आज तुमसे अपने मन की बात साफ-साफ कहना चाहता हूँ। अक्सर तुमने मुझसे पूछा है 'मैं तुम्हें क्यों नहीं चाहता' और आखिर तुममें ऐसी क्या कमी है ?"

बुझी हुई सिगरेट सुलगा कर फिर प्रमोद ने कहा—"सच मानो

अंजना, तुम्हारे नाम, गुण, शिक्षा आदि का परिचय पा कर मैंने एक नया स्वर्ग बसाने का सपना देखा था। तुम्हें पाकर मैंने अपना भाग्य सराहा। पर धीरे-धीरे मुझे जान पड़ा कि जिसे मैं तुम्हारा शील-संकोच समझ कर मजाक में उड़ाने की कोशिश करता था, वह तुम्हारा कपटाचरण एवं कौशलपूर्ण अभिनय मात्र था। तुम्हारे मन में कोई दूसरा बैठा था और अपना निर्जीव-सा शरीर तुमने मुझे सौंप दिया था। जवानी के अंधेपन ने कुछ दिन तक मुझे तुम्हारे उस बिना मन के शरीर से ही सुख लूटने का सन्तोष दिया ; पर एक दिन मन ने चोर पकड़ा और दूसरे ही दिन से तुम्हारी जिन्दा लाश मुझे नीरस तथा घिनौनी लगने लगी। तब एक बार फिर मुझे गम-गलत करने के लिए बाहरी नारी-सौन्दर्य और मदिरा का सहारा ढूँढ़ना पड़ा। आज सारा समाज मुझे दोषी, शराबी और चरित्रहीन कह कर नाक-भौं सिकोड़ता है। और तुम ? तुम सती हो, साध्वी हो, निर्दोष हो, अबला हो, असहाया हो ! सारे समाज की सहानुभूति तुम्हारे साथ है !"

इस बार मानों अंजना के धैर्य और संयम का बाँध टूट गया। और वह फफक-फफक कर रो पड़ी। उसने कुर्सी से उठने की चेष्टा की, तो प्रमोद ने हाथ पकड़ कर उसे बिठाते हुए कहा—"जरा ठहरो, कुछ मिनट और बैठो। अभी मेरी बात पूरी नहीं हुई है। रोने से कुछ न होगा। तुमने अपनी ही नहीं, कई प्राणियों की जिन्दगी खराब की है—और शायद हम अपनी-अपनी जिन्दगी के टूटे हुए तारों को फिर न जोड़ सकें, क्योंकि भारत यूरोप या अमरीका नहीं है। हमारा समाज, हमारी अन्धपरम्पराएँ और हमारे कुसंस्कार मानों मौत की मनहूस छाया बनकर हमारी जिन्दगी के क्षणों को अँधेरा और निर्जीव बनाने पर तुले रहते हैं ! हम छूँछे आदर्शों के पुजारी हैं, जीवन के सहज सत्य के नहीं।"

सिगरेट से एक जोर का कश खींच उसे ऐश-ट्रे में बुझाते हुए प्रमोद

उठ खड़ा हुआ और जाते हुए बोला—"मैं देर से आऊँगा। खाना भी बाहर ही खाऊँगा। मेरे लिए इन्तजार मत करना।"

अंजना कुर्सी पर से उठी नहीं। हतप्रभ और स्तंभित वह जड़वत् वहीं बैठी रही। पीछे सागर हहरा रहा था, आगे जाते हुए प्रमोद के खट्-खट् करते हुए जूतों का स्वर विलीयमान हो रहा था और अंजना के मन के भीतर मानों एक महान् शून्य मरणान्तक अँगड़ाई ले रहा था। यह थी उस खान्दानी, पढ़ी-लिखी और धनी पत्नी की एक जीवन-सन्ध्या!

× × ×

दिवाली की दो छुट्टियाँ साथ ही पड़ीं। एक दिन तो जैसे-तैसे कट भी जाता है, पर दो कैसे कटें? फिर बम्बई जैसे भीड़-भड़क्के वाले शहर में भी जो अपने-आपको अकेला पाता हो, उसके लिए तो कहना ही क्या? अतः मैंने तय किया कि कहीं दूर जाया जाय। इसीलिए सारा दिन गाड़ी की झाड़-पोंछ में ही लगाया। शाम को नहा-धोकर निकलने का इरादा ही कर रहा था कि टेलीफोन की घंटी बजी। मैंने चोंगा उठा कर कान से लगाया ही था कि किसी ने घबराहट-भरे स्वर में कहा—"कौन प्रकाश? मैं प्रमोद हूँ। भाई, जरा लपक कर जाओ। अंजना की साड़ी में दिये से आग लग गई, जिससे वह बुरी तरह जल गई है। शायद न बचे। तुम फौरन···"

मैंने प्रमोद का वाक्य पूरा होने से पहले ही चोंगा रिसीवर पर रख दिया और दौड़ कर उसके घर पहुँचा। देखा, बैठक में कई लोग सुन्न से बैठे हैं। नौकर भी सब सहमे हुए थे। ऊपर पहुँचा, तो देखा कि अंजना की देह एक सफेद चादर से ढँकी फर्श पर रखी है। इधर-उधर कहीं भी दिये वगैरह दिखाई नहीं दिये। मैंने जब प्रश्न-भरी दृष्टि से प्रमोद की ओर देखा, तो उसने मेरे कान के पास मुँह लाकर कहा—"बेवकूफ औरत थी, पता नहीं क्या कर लिया है!"

मैं हक्का-बक्का रह गया। मैं कुछ पूछूँ, इससे पहले ह प्रमोद अपना बैग लेकर जाते हुए डाक्टर की ओर बढ़कर बोला—"डाक्टर साहब, एक बार फिर सोच देखिए। आपका मेरा बड़ा पुराना सम्बन्ध है। इस जरा-सी बात के लिए·····"

"बात तो सचमुच जरा-सी है, प्रमोद बाबू, पर मेरे लिए बहुत बड़ी जिम्मेदारी और महत्त्व की है। मुझे क्षमा करेंगे। इसका सर्टिफिकेट आपको कार्पोरेशन के स्वास्थ्य-विभाग से ही लेना होगा।" यह कह कर डाक्टर चला गया।

मेरी ओर घूम कर प्रमोद ने कहा—"प्रकाश, इस समय मेरी मदद करो। यह डाक्टर कहीं मेरी मौत का कारण न बन जाय।"

मैं हक्का-बक्का रह गया। कुछ समझ में नहीं आया। पूछा—"आखिर माजरा क्या है?"

"अंजना ने पता नहीं क्या कर लिया! अब उसकी मिट्टी ठिकाने लगाने का सवाल है। किसी तरह मृत्यु का सर्टिफ़िकेट हासिल करना होगा। तुम्हारे तो बम्बई में अनेक परिचित डाक्टर·····"

मैं असली वस्तु-स्थिति अब समझा। प्रमोद का वाक्य पूरा होने तक मेरा वहाँ रुकना असंभव-सा हो गया। अतः मैं तेजी से कदम बढ़ाकर नीचे चला आया। पीछे से प्रमोद 'प्रकाश, प्रकाश' पुकारता रहा; पर मैंने कोई उत्तर न दिया।

गाड़ी में आकर जब मैं बैठा तो सिर चक्कर खा रहा था और ऐसा लगा कि आज मैं उसे चला नहीं सकूँगा। पर वहाँ ठहरना भी मेरे लिए असंभव था, अतः जैसे-तैसे वहाँ से निकला। चारों ओर दिवाली का प्रकाश रात को दिन बनाये दे रहा था, पर मुझे मानों चारों ओर से सघन अन्धकार लीलने की चेष्टा कर रहा था। बाहर जब इतने दिये टिमटिमा रहे थे, मुझे ऐसा लगा मानों मेरे भीतर का एकमात्र दिया अभी-अभी बुझ गया है और जिसकी बुझी हुई लौ से सिर्फ तेलहा धुआँ भर निकल रहा है।

# रंजना

उस दिन जेट्टी पर खड़े हो कर, हुगली (गंगा) के उस पार हो रहे सूर्यास्त का दृश्य देख कर, हम लोग मुग्ध हो उठे। मुझे पुलिकत देख कर, दत्त बाबू बोले, "सूर्योदय और सूर्यास्त तो ऐसे सामान्य दैनिक व्यापार हैं, जिन्हें कम ही लोग लक्ष करते हैं। असली बात तो यह है कि गंगा, नील, दजला, फरात, टाइगर, टेम्स आदि के तट पर न जाने कितनी सभ्यताओं तथा संस्कृतियों ने जन्म लिया और पलीं-पनपीं तथा फिर इन्हीं के प्रवाह में बह गयीं।"

हर वक्त गम्भीर और पंडिताऊ बातें मुझे अच्छी नहीं लगतीं। अतः मैंने कुछ विरस हो कर कहा, "क्या यहाँ भी आपके ऐतिहासिक प्रवचन की आवश्यकता है, दत्त बाबू?"

वे चुप रहे। जब सूरज बिलकुल डूब गया और मैंने चलने के लिए दत्त बाबू की ओर देखा, तो उनकी आँखें सजल थीं। चश्मा उतार कर उन्होंने धोती के छोर से आँखें पोछीं और फिर चश्मा लगाते हुए बोले, "अब चलें।"

"हाँ, मैं भी यही कहने जा रहा था!" मैंने कहा और हम लोग ऊपर सड़क पर पहुँच कर, शहर की ओर चलते हुए मैंने कहा, "दत्त बाबू? आज आप कुछ उदास-से नज़र आ रहे हैं। क्या कोई खास बात है?"

"नहीं, नहीं, कोई खास बात नहीं!" प्रयासपूर्वक हँस कर वे बोले, "आपने कल 'रंजना' देखने चलने का जो प्रोग्राम बनाया है, मुझे अभी से उसका स्मरण हो आया। इसीलिए मैंने सभ्यता, संस्कृति की बात कही। उसकी कथा मुझे विचलित कर देती है, यह सत्य है।"

इस बार गम्भीर होने की बारी जैसे मेरी थी। मैं कुछ न बोला।

पतित-पावनी गंगा के किनारे खड़ा वह भव्य, किन्तु जीर्ण-शीर्ण प्रासाद जैसे किसी अनिंद्य सुन्दरी के बुढ़ापे की याद दिलाता था। अपनी उच्छल तरंगों से उसकी सीढ़ियों का प्रक्षालन करने वाली गंगा की धारा अब उससे कुछ दूर हट गयी थी। सीढ़ियों का कुछ भाग, न जाने कब अन्य सीढ़ियों से विलग हो, पानी में बह गया था और बाकी के भाग नीचे की मिट्टी के खिसक जाने से, एक ओर झुक गया था। लगातार पानी के थपेड़े सह कर, घिसा हुआ अवशिष्ट सीढ़ियों का भाग, काई जम जाने से काला हरा हो रहा था और उस पर जहाँ-तहाँ घास भी जम गयी थी। सीढ़ियों के दोनों ओर की दीवार भी खंडित थी और उस पर भी जहाँ-तहाँ छोटे-छोटे पेड़ उग आये थे। ऊपर कोठी के सामने जो कभी सुन्दर लॉन रहा होगा, वह अब घास और बरसाती पौधों का एक छोटा-सा जंगल नजर आ रहा था। लॉन के गंगा तट वाले दोनों छोरों पर दो सुन्दर गुमटियाँ बनी थीं, जिन पर छायी हुई बेलों की अब केवल सूखी डंडियाँमात्र शेष थीं। आगे बढ़ने पर कोठी का बरामदा था, जिसकी सीढ़ियाँ लहरदार काले संगमरमर की थीं और फर्श सफेद संगमरमर का था। देख-रेख न होने से इसमें काफी धूल जमी थी। एक जगह दत्त बाबू ने पाँव से धूल हटायी, तो नीचे से सुन्दर बंगला अक्षरों में कलापूर्ण ढंग से लिखा हुआ एक नाम चमक आया 'रंजना'।

मैंने प्रश्न-भरी दृष्टि से दत्त बाबू की ओर देखा। उन्होंने जेब से चाभी निकाल कर, कोठी का ताला खोलने का उपक्रम आरम्भ किया। ताला खोल कर, उन्होंने किवाड़ के दोनों पाटों को खोल दिया। भीतर घुसते ही मैं जैसे अकचका गया। एक लम्बा-चौड़ा दालान था, जिसमें कई रंग-बिरंगे शीशे लगे रोशनदान थे। दीवारों पर कुछ इस तरह का रंग था कि रोशनदानों से छन कर आने वाले प्रकाश से जैसे उसमें चाँदनी-सी खिल रही थी। और छत में लगे शीशे के टुकड़े तथा लटकने

वाले झाड़-फ़ानूश, मानो आकाश के सितारों से जगमगा रहे थे। दालान के बीचोबीच एक बड़ा झालरदार ख़स का पंखा झूल रहा था। दीवारों के बीच-बीच में जहाँ-तहाँ चाँदी-सोने की नारी-मूर्त्तियाँ, अंजलि में दीप लिये, खड़ी थीं और ऊपरी हिस्सों में, चौड़े सुनहरी चौखटे में जड़े, चित्रों की पंगत-सी जुटी थी। अधिकांश चित्र अंग्रेजों के थे। मैं इसका कारण नहीं समझ सका। इसी समय मेरी बाँह-पकड़ कर सामने की दीवार की ओर ले जाते हुए, दत्त बाबू ने कहा, "देखो, यही है 'वह रंजना।"

मैंने दृष्टि पसार कर देखा, एक आदमकद तैलचित्र था, ऐसी सुन्दरी का, जो चित्र में भी मानो जीवित और बोलती हुई-सी, जान पड़ती थी। उसके नक्श और नाक-आँखें मुझे कुछ-कुछ ल्यानार्दो दि विंची की मेडोना सी लगीं।

मुझे वहीं खड़ा छोड़ कर, दत्त बाबू ने जाकर दालान का दूसरा दरवाज़ा भी खोल दिया, जिससे हवा सायँ-सायँ कर, दालान में दौड़ने लगी। पंखा और झाड़-फ़ानूस दोलायमान हो उठे। जब मैं दत्त बाबू की ओर बढ़ा तो वे बोले, "यह फ़र्श पर बिछा कालीन फ़ारस का है और सारा फ़र्नीचर इंगलैंड का।" फिर जैसे मुझे उनकी बात पर विश्वास न हो, एक क्षण रुक कर वे बोले, "हाँ, सच, इंगलैंड का।"

मैंने पूछा, "तो रंजना इस कोठी का नाम था या उन भद्र महिला का?"

"मैंने आपको जिसका चित्र बताया है, असली 'रंजना' तो वही है और उसी के नाम पर 'रंजना' का निर्माण और नामकरण हुआ है।"

मैंने एक बार फिर दालान में दृष्टि घुमायी। सारी चीजें ऐसे क़रीने से सजा कर रखी हुई थीं, मानो अभी-अभी कोई यहाँ से चला गया हो। मुझे चुप देख कर दत्त बाबू बोले, अपने रवीन्द्रनाथ की 'क्षुधित पाषाण' कहानी तो पढ़ी है न? मुझे एक बार यहाँ रात बिताने पर लगभग वैसा ही कुछ अनुभव हुआ था।"

"जगह तो कुछ वैसी ही है", मैंने कहा—"पर आप इसके बारे में कुछ विस्तार से तो बताइए।"

"हाँ, हाँ बताऊँगा। अब तो सारी रात अपनी है। पर पहले कुछ पेट पूजा का यत्न किया जाय।"

"हाँ, ज़रूर!" कह मैंने उनका समर्थन किया और हम लोग खाने-पीने की तैयारी में लग गये। खाना-पीना समाप्त कर, जब हम लोग बाहर लॉन में आये, तो सूरज छिपे काफ़ी देर हो गई थी और आकाश में तारे जगमगाने लगे थे। गंगा के किनारों पर जहाँ-तहाँ बिजली की बत्तियाँ चमचमा रही थीं। धीर-गम्भीर गति से प्रवहमान धारा इस समय बड़ी सुन्दर जान पड़ रही थी। हम लोग कुछ सीढ़ियाँ उतर कर, उसके पास आ बैठे। जिस प्रकार श्मशान में जाने पर आदमी के मन में वैराग्य-सा जगता है, उसी प्रकार गंगा के किनारे आकर भी कल्पनाएँ करवट लेने लगती हैं। मैंने कहा, "दत्त बाबू अगर कोई लुडविग की नील-यात्रा की तरह गङ्गोत्री से गंगासागर तक की गंगा-यात्रा करे, तो इसके दोनों तटों के आस-पास के इतिवृत्त के रूप में भारत का एक अभिनव इतिहास तैयार हो सकता।"

"हो तो सकता है।" दत्त बाबू ने सिगरेट का धुआँ छोड़ते हुए कहा, "पर प्रतिदिन, प्रति-पल इसके तट पर कब क्या होता है, इसका इतिवृत्त बतायेगा कौन? बताने वाले तो मर चुके हैं और गंगा माँ बोलेगी नहीं।"

"हाँ, यह तो है।" मैंने कहा।

"जिस जगह हम बैठे हैं, सौ-सवा सौ वर्ष पहले यहाँ क्या था? एक छोटा-सा झोपड़ा, जिसमें पास के गाँव का एक ग़रीब आदमी कभी-कभी मछली पकड़ने आता था। एक दिन किसी साहब से उसकी भेंट हुई और उसने उससे कहा, "अगर तुम हमारा साथ दोगे तो तुम्हें मालामाल कर देंगे।' बेचारा ग़रीब लुभा गया। कुछ ही वर्षों में अँग्रेजों की कृपा और

सुविधा-सहायता से वह एक बहुत बड़ा व्यापारी और फिर जमींदार हो गया। पर देश और देशवासियों के साथ विश्वासघात कर, वह अपने समाज का प्रीतिभाजन न बन सका। फिर भी उसका लड़का जब तक जवान हुआ, उस जैसे भारतीय साहबों का एक खासा बड़ा वर्ग बन चुका था। अशिक्षा और पिछड़ेपन के कारण बाप जो नहीं कर सका, अँग्रेजी पढ़ा-लिखा लड़का वह खूबी से करने लगा। देखते ही देखते झोपड़े का स्थान एक बढ़िया कोठी ने ले लिया और सुरा-सुन्दरी की गंध-लय से इसकी एक-एक ईंट गमक उठी। अँग्रेज़ों की लूट में सहायक और साझी-दार होने के कारण, इन जमींदार महाशय पर सम्पत्ति मानो छप्पर फाड़ कर बरसी और इनकी तृष्णा भी जैसे बाँध तोड़ कर खेलने लगी।

रंजना इन्हीं की लड़की थी। बचपन के कारण पहले इस बागान-बाड़ी में उसका प्रवेश निषिद्ध था। कभी-कभी किसी नौकर के मार्फ़त यदि वह पहुँच भी जाती, तो लुक-छिप कर भले ही देख ले, पर वैसे दालान में उसका पाँव रखना तक वर्जित था। देखते ही देखते यह स्थान अँग्रेज़ अफ़सरों का एक क्लब-सा बन गया, जहाँ उन्हें भारतीय सभ्यतासंस्कृति के साथ ही सुरा और सुन्दरी का परिचय भी मिलने लगा। पता नहीं, कैसे एक दिन वय-प्राप्त रंजना ने भी इस मंडली में प्रवेश पाया और अपनी प्रतिभा तथा रूप-सौन्दर्य से सहज ही उसने सबको अपनी ओर आकृष्ट कर लिया। उसकी किसी वर्ष-गाँठ पर इस कोठी का नामकरण 'रंजना' हुआ और इसे नये ढंग से सजाया-सँवारा गया। ऐसा सुना गया कि रंजना के रूप-गुण की चर्चा ने अधिक लोगों को रंजना-मंडली में शामिल किया और इसके परिणामस्वरूप रंजना के पिता को लाभ भी अधिक होने लगा। पहले तो रंजना की बढ़ती पूछ ने उन्हें कुछ विस्मित और शंकित किया, पर अन्त में उनकी बुद्धि और विवेक पर पड़े सुरा तथा सम्पत्ति की तृष्णा के पर्दे ने उनकी व्यग्रता को हर लिया और रंजना उनकी कमाई का एक उपादान-मात्र बन कर रह गयी।

जवानी अन्धी ज़रूर होती है पर एक दिन उसकी खुमारी भी उतर जाती है। रंजना के साथ भी यही हुआ। एक दिन उसने महसूस किया कि बाप नाम के जिस चाण्डाल के फेर में वह पड़ी है, उसने उसे कहाँ पहुँचा दिया है। उसने अपने जीवन के पृष्ठ टटोल कर अपने मन से पूछा, एक चेहरा उसके कल्पना-पथ पर तैरता-सा उभर आया। यह था हेनरी का, जो किसी उच्च पद पर था। उसे याद आयी हेनरी की वह बात, जो उसने उसका हाथ अपने हाथों में ले कर बच्चे के-से भोलेपन के साथ कही थी, "तुम-सी पुत्र-वधू पाकर मेरी माँ बहुत खुश होगी।" और चुहल करते हुए रंजना ने कहा था, "वाह रे भोंदू साहब! तो गोया अपनी बूढ़ी माँ को खुश करने को ही मुझसे शादी करने का यह प्रस्ताव रखा जा रहा है!" हेनरी झेंप गया था, पर रंजना मन ही मन फूल उठी थी कि चलो हेनरी के मुँह से यह बात तो निकली।

और फिर उस दिन के बाद से रंजना-मंडली के अन्य सदस्यों के प्रति रंजना का रुख़ बदल गया। मुस्कुरा कर सबके साथ हाथ मिलाने और सब की साकी बनने से जैसे अब उसे ग्लानि होने लगी। साहबों की कृपा पर जीने और पनपने वाले उसके पिता का इस आकस्मिक परिवर्तन से चिन्तित होना स्वाभाविक ही था। उन्होंने पहले समझा-बुझा कर और फिर डरा-धमका कर रंजना को हेनरी से ज्यादा मेल-जोल बढ़ाने की मुमानियत कर दी। इसके बाद ऐसी व्यवस्था हुई कि हेनरी वहाँ कम ही आये-जाये, अकेले में रंजना से बातचीत न कर सके और कम देर तक ही ठहरे। कुछ दिन बाद विलायत से हुक्म आया बताते हैं कि हेनरी को किसी भी हिन्दुस्तानी लड़की से शादी करने की अनुमति नहीं दी जा सकती। और फिर एक दिन उसकी मौकूफ़ी तथा विलायत लौट जाने का भी हुक्म आ गया।

पर हेनरी इससे विचलित नहीं हुआ। उसने नौकरी छोड़ कर हिन्दुस्तान में ही रहने का निश्चय किया, बशर्ते कि रंजना राज़ी हो जाय।

और रंजना ? वह जैसे सकते में थी। वह अपने पिता का नाटक देख रही थी। अंगरेजों के पास जाकर वह कहता—"अगर यह शादी हुई, तो अँगरेज़ों की न सिर्फ़ प्रतिष्ठा को ही ठेस पहुँचेगी, बल्कि हिन्दुस्तान में उनके खिलाफ़ घृणा और क्षोभ की बाढ़-सी आ जायगी।" दूसरी ओर बंगालियों से कहता—"एक संभ्रान्त कुल की आर्य कन्या का जीवन एक म्लेच्छ नष्ट करे और आप सब हाथ पर हाथ धरे बैठे रहें, यह क्या उचित है ?" परिणाम यह हुआ कि क्षोभ और घृणा की इस दोहरी बाढ़ में हेनरी डूबने-उतराने लगा। अगर उसे इसी समय बलात् इंगलैंड न भेज दिया गया होता, तो पता नहीं क्या गुल खिलते ?

इसकी रंजना के मन पर क्या प्रतिक्रिया हुई, कहना सम्भव नहीं। एक दिन उसकी लाश इसी गंगा पर तैरती हुई देखी गयी। यह आत्म-हत्या थी, इसका निश्चित रूप से पता नहीं चल सका।"

दत्त बाबू चुप हो गये। मैं हक्का-बक्का-सा उनकी ओर देखता रहा। समझ में नहीं आ रहा था कि एक बाप.....

मुझे चुप देख कर दत्त बाबू ने पूछा—"क्या आप अब भी मुझे सलाह देंगे कि 'रंजना' को बेच दूँ ? कितनी करुण स्मृतियाँ जुड़ी हुई हैं इस अभागी कोठी के साथ ?"

"पर दत्त बाबू !" मैंने पूछा—"आपने यह तो बताया ही नहीं कि आपको यह सब मालूम कैसे हुआ और यह कोठी आपके पास कैसे आई ?"

"यह बताना—जानना क्या ज़रूरी ही है ?" एक ठंडी साँस ले कर दत्त बाबू ने कहा।

"क्यों, ईसमें क्या हर्ज है ?"

"समझे, तो बहुत है, अन्यथा कुछ भी नहीं।"

"आखिर यह क्या है, बताएँ।"

"आप जानना ही चाहते हैं, तो यह अभागा व्यक्ति ही रंजना का

भाई और उसके चाण्डाल पिता की एकमात्र संतान होने के कारण इस कोठी का मालिक है।"

"दत्त बाबू आप !" मेरे मुँह से ऐसे निकला, मानो मेरे सामने कोई भूत बैठा हो और मेरी आँखें चौड़ी हो गयीं।

"यह आप मेरी ओर इस तरह क्यों घूर रहे हैं !" कहते हुए दत्त बाबू उठ खड़े हुए और फिर किंचित् आवेश के साथ बोले, "और कुछ अधिक जानना चाहें, तो यह भी जान रखिए कि उस चांडाल पिता को जीवितावस्था में ही जल-समाधिस्थ करा कर, मैंने उनका भी तर्पण कर दिया।"

इस बार मेरे मुँह से कोई शब्द न निकला। मेरे बदले में मानो गंगा की शत-सहस्र लहरें एक साथ चीख़ उठीं, हवा रो पड़ी और आसमान के सारे तारे काँपने लगे।

# अणाची की हवेली

कई लम्बे वर्षों के बाद मैं अपने गाँव लौटा था। इन वर्षों में मेरे अपने देश के और विश्व के जीवन में न जाने कितने बड़े-बड़े और ऐतिहासिक परिवर्तन हो चुके थे; पर बालू के धोरों के बीच में बसा यह गाँव मानों ज्यों का त्यों अपनी कुम्भकर्णी नींद में ही सो रहा था। वही डेढ़ कमरे का छोटा-सा स्टेशन, ज़मीन पर लकड़ी के स्लीपरों के सहारे बिछी रेल की दो पटरियाँ और गाँव को जाने वाला बैलगाड़ी के पहियों से दो छोटी-छोटी नहरों-सा गहरा हो गया रास्ता। स्टेशन के बाहर ही लकड़ी के एक तख्ते पर बाँसों के सहारे टिन डाल कर बनाई गई एक मात्र दूकान भी अभी तक उसी अपरिवर्तित अवस्था में ही थी। इसके सामने खड़े होनेवाले कुलियों, कुछ ऊँटों और बैलगाड़ियों की संख्या ज़रूर बढ़ गई थी। ऊँट सब किसी न किसी को लेने आये थे, अतः मैंने एक बैलगाड़ी वाले से ही भाड़ा तय किया और गाँव के लिए चल पड़ा।

रास्ते में बालू के धोरों के सिवा और कुछ भी न था। पर मुझे बैलगाड़ी के दचकों से इतनी तकलीफ नहीं हो रही थी, जितनी इस बात से कि अभी भी हमारा देश बैलगाड़ी के युग में ही रह रहा है। सड़क और बिजली तो दूर रहे, रास्ते के खड्डे और मोड़ तक नहीं बदले हैं। गाँव के नज़दीक पहुँचते-पहुँचते जैसे बाल्यकाल की दबी हुई स्मृतियाँ फिर उभड़ने लगीं। बाँई ओर करील की कुछ झाड़ियाँ बिना तेल दिये बालों के गुच्छों की तरह अपनी पुरानी बेतरतीबी के साथ सोई थीं और दाहिनी ओर कुछ फासले पर खड़ा खेजड़े का पेड़ न जाने किसकी प्रतीक्षा में खड़े-खड़े ही निस्तेज हो बुढ़ा गया था। गाँव के बाहर का वह

कच्चा मन्दिर और उस पर छाया किये खड़े नीम पर एक बाँस में लगी तिकोनी लाल झंडी अभी भी अपने पुराने रूप में ही थी। हाँ, कुछ पुराने घर ज़रूर खँडहर बन गये थे और जहाँ-तहाँ कुछ नये पक्के मकान बन गये थे, जो गुदड़ी के लालों की तरह दूर से ही चमक-से रहे थे।

मेरे घर लौटने की बात शायद मुझसे पहले ही गाँव में पहुँच और फैल चुकी थी। अतः घर तक पहुँचते एक खासी भीड़ मेरे साथ हो ली और घर के बाहर लगी भीड़ को देख कर मैं चकरा गया। मानो सारा गाँव ही मुझे देखने को जमा हो गया था। उन भोले-भाले चेहरों की प्रसन्न मुद्रा और उनकी सरल स्नेहपूर्ण दृष्टि में भरे निष्कपट आमंत्रण-अभिनन्दन ने जैसे मुझे मोह-सा लिया। और मेरे गाड़ी से उतरते ही 'राम-राम भैया', 'अच्छे तो रहे', 'कब तक रहोगे यहाँ', 'चलो अच्छा हुआ जो तुम लौट आये', आदि की झड़ी-सी लग गई। इन अपरिचित लोगों को पहचानने में मुझे काफी कठिनाई हो रही थी और ये भी शायद मुझे घर के नाते ही जानते थे। मेरे समय के अनेक वयस्क व्यक्ति अब परलोकगामी हो चुके थे। और आज के अनेक युवक और युवतियाँ तो मेरे गाँव छोड़ने के बाद ही पैदा हुए थे।

भीड़ के छँट जाने पर मैंने देखा कि रास्ते से कुछ हट कर एक चबूतरे के सहारे घूँघट निकाले कोई स्त्री खड़ी है। उसके वस्त्र अधिक भड़कीले रंग और गोटा लगे तथा हाथों में सोने के गहने थे। गाँव के समूचे वातावरण में वह अनायास एक अपवाद-सी जान पड़ रही थी। मैंने पास खड़े एक आदमी से पूछा—"यह औरत कौन है!"

उत्तर में उसके चेहरे पर एक व्यंग्यभरी मुस्कुराहट फैल गई और मुँह बिचका कर बिना उत्तर दिये ही वह दूसरी ओर चल दिया। मेरी समझ में नहीं आया कि आखिर माजरा क्या है? एक दूसरे व्यक्ति की ओर मैंने प्रश्न-भरी दृष्टि से देखा। उसने मेरे कान के पास मुँह ले जाकर कहा—"इसे आप नहीं जानते? अरे, यह तो अणची है। बड़ी खराब,

बदज़ात, बदमाश....." और अभी वह न जाने और क्या-क्या कहता, पर मैंने उसके मुँह के पास से अपना कान हटा लिया और आश्चर्य तथा क्षोभ के साथ उसकी ओर देखने लगा।

इसी बीच धीरे-धीरे वह स्त्री मेरी ओर बढ़ी, जिसे देख कर मेरे आस-पास खड़े लोग तितर-बितर हो गए। पास आकर उसने कहा—"अच्छे तो रहे, भैया? अब कुछ दिन यहाँ रहो। आख़िर घर-दुवार कौन सम्हालेगा?"

एक क्षण मैं बड़े असमंजस में डूबा रहा। फिर साहस कर कहा—"लेकिन माफ़ कीजियेगा, मैंने आपको पहचाना नहीं।"

स्त्री ने अपना घूँघट कुछ ऊपर खिसका कर कहा—"मैं अणची हूँ, नारायणी की बेटी और तुम मुझे पहचानोगे भी कैसे? तुम जब यहाँ से गए तो मैं केवल पाँच वर्ष की रही होऊँगी। और अब....." कहते-कहते उसका गला भर आया। मैंने देखा, अणची के सौन्दर्य को देखकर कोई भी जानकार व्यक्ति विश्वास नहीं कर सकता था कि वह नारायणी की ही बेटी है। उस फूहड़ और गँवार नाइन की, जो हमारे यहाँ जूँठे बरतन माँजा करती थी। पर उसके चेहरे पर प्रसन्नता या मुस्कान की जगह विषाद की गहरी छाया थी, उसकी ऊपर न उठने वाली पलकें मानो किसी असाधारण पीड़ा व बोझ वहन करने की कठोर चेष्टा कर रही थीं। इसका और गाँव वालों के विचित्र रुख़ का मैं कुछ कारण ढूँढ़ने की ऊहापोह में ही था कि नौकर ने आकर कहा—"माँजी भीतर बुला रही हैं आपको।"

"अच्छा अभी तो मैं यहाँ हूँ ही, फिर मिलेंगे।"—कहकर बिना अणची के उत्तर की प्रतीक्षा किये ही मैं घर में चला गया। माँ ओसारे में बैठी रामायण पढ़ रही थी। मैंने जाकर उनके पाँव छुये और पास बैठ गया। ज्योंही मेरी आँखें उनके चेहरे की ओर उठीं, देखा, उनकी कठोर मुद्रा कुछ क्षुब्ध-सी है और जैसे मेरे आने की खुशी का उस पर

कोई चिन्ह तक नहीं है। उन्होंने बिना दृष्टि मेरी ओर घुमाये सामने की ओर देखते हुए ही कठोर स्वर में पूछा—"उस रंडी से क्या बात कर रहे थे ?"

मैं हक्का-बक्का रह गया ! "रंडी से ?" "किस रंडी से ? मैंने पूछा।

"उसी चुड़ैल अणची से।"—माँ ने उसी कठोर स्वर में कहा।

"ओह !"—मैंने हँसकर कहा—"तो उसका यह नाम कैसे पड़ा ? आखिर ऐसा भी क्या कसूर किया है उस बेचारी ने ?"

"मुझसे कैफियत तलब करने से पहले यह बताओ कि उससे क्या बात कर रहे थे ?"—माँ ने ज़रा डपटने के स्वर में कहा।

"कोई खास बात तो नहीं।" इस बार मैंने ज़रा गम्भीर होकर कहा।

"उसने तुमसे क्या कहा ?"

"कुछ खास तो नहीं। यही कह रही थी कि कुछ दिन यहाँ रहो, आखिर घर कौन सम्हालेगा, वगैरह।"

"हूँ"—कहकर माँ ने एक तीखी दृष्टि मुझ पर डाली और दाँत को भींच कर बोलीं—"मैं जानती हूँ कि यह कुलटा क्यों तुम्हें यहाँ रहने को कह रही है !"

"आखिर क्यों, माँ ? मैं भी तो सुनूँ ?" मैंने उत्सुकता से पूछा।

"समय आने पर यह भी जान जाओगे। इस कुलच्छनी ने एक भी तो घर नहीं छोड़ा।"—कह कर माँ ने रामायण बन्द की और उसे एक कपड़े में लपेट कर उठते हुए कहा—"जाओ, हाथ-मुँह धो लो। खाना तैयार है।"

मैं बिना और कुछ बोले चुपचाप उठकर हाथ-मुँह धोने चला गया।

—२—

मैं कई दिनों तक गाँव में रहा, इधर-उधर घूमा-फिरा भी, पर कहीं भी अणची को नहीं देखा। उसके बारे में होने वाले एकांगी कुत्सा-प्रचार

से मेरी उसके प्रति उत्सुकता और भी बढ़ने लगी थी, पर जाकर उससे मिलने अथवा उसे बुलवा कर मिलने का जैसे मैं अपने-आप में साहस नहीं पा रहा था। एक दिन जब मैं शिकार से लौट रहा था, तो देखा कि गाँव के बाहर मन्दिर से कुछ दूरी पर अणची रास्ते में बैठी हाँफ रही है। शाम का धुँधलापन बढ़ा नहीं था। उसके पास घोड़ा रोक कर मैं नीचे उतरा और पूछा—"क्यों, कैसी तबीयत है?"

अणची ने गर्दन ऊपर उठा कर मुझे देखा और सहसा प्रसन्न होकर उठते हुए कहा—"तबीयत तो ठीक ही है, भैया। इधर कुछ दमे की शिकायत बढ़ गई है जब दौरा आता है तो बड़ी परेशान हो जाती हूँ। आज कई दिन बाद घर से निकली, फिर हँफनी चढ़ जाने के कारण मन्दिर तक भी नहीं पहुँच सकी।"

"तुम्हें मन्दिर जाना हो, तो चलो, मैं पहुँचाए देता हूँ।"

"पहुँचाने की कोई बात नहीं, भैया। पर तुम से बहुत-सी बातें करनी थीं। क्या मेरे साथ मन्दिर तक चल सकोगे?"

"जरूर, क्यों नहीं।"—कह कर मैं उसके साथ हो लिया।

मन्दिर क्या था, छोटे से चबूतरे पर एक खिलौना-सा छोटा मन्दिर बना था, जिसके भीतर सिन्दूर से पुता एक बेडौल पत्थर रखा था। वही मानो किसी अनगढ़ मूर्ति का प्रतीक बन गया था। अणची ने अपनी ओढनी के छोर में बँधा पुजापा खोला और उसे मूर्ति पर बिखेर दिया। फिर सर झुका तथा आँखें मूँद कर प्रणाम किया। चबूतरे के किनारे के एक साफ बड़े पत्थर की ओर इशारा कर अणची ने कहा—"बैठो।" और स्वयं कुछ निचाई पर लगे एक पत्थर पर बैठते हुए सहज भाव से बोली—"सुना, तुमने किसी वेश्या से शादी कर ली है?"

मैं जैसे सकते में आ गया, साश्चर्य पूछा—"वेश्या से? किसने कहा यह तुमसे?"

"अब मुझसे क्यों कहलवाते हो? माँ जी के मुँह से ही सुना है कि

वह एक रँगी-पुती बाजारू बेपर्दा गुड़िया है, जो बिना मुँह-सिर ढँके मर्दों में उठती-बैठती और घूमती-फिरती है तथा नाच-गान भी करती है।"

"ओह ! बात अब कुछ-कुछ मेरे समझ में आई" मैंने कहा—"पर क्या पर्दा नहीं करने वाली, मर्दों में उठने-बैठने वाली और नाच-गाना जानने वाली हर औरत वेश्या ही होती है ?"

"मैं क्या जानूँ, भैया ? न पढ़ी, न लिखी। मैं तो इतना ही जानती हूँ कि मर्द-मर्द है और औरत-औरत। यह वेश्या की संज्ञा तो तुम पढ़ो-लिखों की सृष्टि है। मुझे तो यह खुशी है कि जैसा कुछ भी हो, आख़िर तुम एक बहू ले तो आये, नहीं तो....." और एक रहस्यपूर्ण ढंग से मुस्कुरा कर अरणची चुप हो गई।

"बात यह है अरणची, कि मैंने जात-पाँत तोड़ कर एक ऐसी लड़की से शादी की है, जो मेरे साथ पढ़ती थी। वह बहुत सुन्दर है। अच्छे कपड़ों और जेवर का उसे शौक है। संगीत और नृत्य उसके जीवन की साँस है और बड़े शहरों में आज-कल पढ़ी-लिखी लड़कियाँ कोई पर्दा नहीं करतीं तथा सब जगह खुलेआम आती-जाती हैं। अब लोग उसे जो समझें।"

"मैं तो ठीक ही समझती हूँ, भैया पर लोग न जाने क्यों दूसरों के सुख-सन्तोष को शंका, कुत्सा और द्वेष की दृष्टि से ही देखने के आदी हो गए हैं। जिन काले और गंदे दिल-दिमाग़ों को जीवन में क्षण-भर को भी कभी जीने का सुख और सन्तोष न मिला हो, वे भला दूसरों को सुखी-सन्तुष्ट देख कर कैसे खुश रह सकते हैं ?"

एक बिना पढ़ी-लिखी स्त्री के मुँह से ये शब्द सुन कर मुझे आश्चर्य-सा हुआ और मैं अरणची की ओर अधिक उत्सुकता से देखने लगा। उसके शब्दों में जैसे अनुभूति की कटुता और चेहरे पर विषाद की छाया झलकने लगी थी। बात बदलने को सहसा मैं पूछ बैठा—"तो क्या बात करनी है मुझसे ?"

"वही तो कहने जा रही थी.। मैं चाहती हूँ कि यहाँ अपनी एक हवेली बनवाऊँ, जो गाँव की सारी हवेलियों से काफ़ी बड़ी और शानदार हो। जब तक मैं जीवित हूँ, उसमें रहूँगी, फिर वह एक सार्वजनिक स्थान के रूप में गाँव के काम आ जायगी। धर्मशाला, मन्दिर, पुस्तकालय, बगीची और छोटा-सा पुस्कालय उसमें होगा।"

"यह तो बड़ा अच्छा विचार है।"

"अच्छा तो है, पर लोग ऐसा होने दें, तब तो।"

"लेकिन भला इसमें किसी को क्या आपत्ति हो सकती है?"

"किसी को क्यों, सभी गाँव वालों को इसमें आपत्ति है और बड़ी भयंकर!"—कह कर अणची ने व्यंग्यपूर्वक मुस्कुरा दिया। "इसके पीछे एक गहरा कारण है, एक लम्बा और दुखद इतिहास भी; पर....." कहते-कहते अणची का गला भर आया।

इस बार आश्चर्य के साथ-साथ मेरी उत्सुकता भी बढ़ गई और मैं अनुनय के स्वर में कहा—"जो-कुछ कहना है, स्पष्ट कहो। तुम जानती हो कि मैं चन्द दिनों के बाद ही यहाँ से चला जाऊँगा और फिर न जाने कब आना हो तथा तुमसे भेंट हो भी या नहीं। मुझे अपना एक भाई समझ कर सब बातें साफ़-साफ़ कहो। अगर मुझसे बन पड़ेगा, तो मैं अवश्य तुम्हारी सहायता करूँगा।"

"तुम्हारे बारे में जो कुछ सुना है, उसी से तो आज इस विश्वास के साथ तुम्हें सब कुछ कहने को यहाँ बुला लाई हूँ। तुमसे दुराव किस बात का? तुम्हारे चले जाने के कुछ समय बाद एक दिन एक घटना घटी, जिसने मेरे जीवन की धारा ही बदल दी। माँजी अपने पीहर गई हुई थीं। माँ के साथ मैं भी तुम्हारे घर काम-काज करने जाती थी। एक दिन माँ बीमार हो गई और मैं अकेली ही काम करने गई। मुझे तो पता भी न था कि कब मैंने बचपन से जवानी में पाँव रखा, पर लोगों को अपनी ओर अधिकाधिक घूरते देख कर मुझे लगा कि ज़रूर मुझ में कोई परिवर्तन

हो रहा है। दूसरों की तो मैंने कभी परवाह न की, पर एक दिन जब तुम्हारे पिता ने मेरा हाथ पकड़ा और आसक्त दृष्टि से मुझे घूरा, तो मैं अपना मान भूल गई। एक क्षण को जैसे मेरे रक्त में एक असाधारण गर्मी दौड़ी और फिर तुम्हारे घर के एहसानों से दबा रोम-रोम जैसे आत्म-समर्पण के सिवा और कोई विकल्पन पा शिथिल हो पड़ा। फिर तो तुम्हारे पिताजी की मुझपर इतनी कृपा हुई कि बर्तन-झाड़ू के काम के लिए मुझे समय ही नहीं मिलने लगा।

"कुछ दिन बाद माँजी लौट आईं और मैं माँ के साथ अपना पुराना काम करने लगी। एक दिन जब माँ ने कहा कि "तू घर ही रह, काम मैं कर आऊँगी' तो मेरी कुछ समझ में नहीं आया। दिन भर घर पर बेकार बैठे-बैठे मेरा जी भी नहीं लगा। शामको माँ के लौटने पर ज्योंही मैंने उससे इसका कारण पूछने को मुँह उसकी ओर किया, तो देखा कि उसके चेहरे की उदासी सहसा एक कठोर मुद्रा में बदल गई और उसने दाँत पीस कर एक ज़ोर का थप्पड़ मेरे मुँह पर मारते हुए लगभग रोने के से स्वर में कहा—'कलमुँही, यह तूने क्या किया?' और मैं कुछ समझूँ, पूछूँ, इससे पहले ही दूसरे थप्पड़ के साथ वह चंडिका-सी गरज उठी—'बता यह पेट किसका है?' मैं क्या कहती? मेरी आँसू-भरी आँखें पेट की ओर झुकी-की-झुकी ही रह गईं। उस दिन पहली बार अपने स्त्री होने के अभिशाप का मुझे कुछ-कुछ एहसास हुआ।

"इसके बाद माँ ने कई झाड़ने-फूँकने वालों को बुलाया, एक-दो बार गर्भ गिराने की चेष्टाएँ भी की गईं; पर सफलता नहीं मिली। कुछ ही दिनों में यह बात सारे गाँव में फैल गई। एक दिन तुम्हारे पिता की अध्यक्षता में पंचायत बैठी और मुझे डरा-धमका तथा फुसला कर पूछा गया कि यह गर्भ किसका है? पर जब मैंने कुछ भी नहीं बतलाया, तो तय हुआ कि गाँव में दुराचार न फैले, इसलिए बच्चा होने तक मैं और कहीं जाकर रहूँ। गाँव की भलाई के नाम पर मैंने इस अन्यायपूर्ण निर्वासन

को भी सहर्ष स्वीकार किया और पास ही के गाँव में अपने मामा के यहाँ जा कर रही। बच्चा होने पर मैंने अपने और उसके प्रतिकूल भविष्य की कल्पना कर उसे गला घोंट कर मार डाला और फिर अपनी माँ के पास चली आई। कोई एक वर्ष बाद माँ का सहारा भी छिन गया और मैं अकेली रह गई। लाख चेष्टा करने पर भी कोई मुझसे शादी करने को तैयार न हुआ, पर लोग मेरे इर्द-गिर्द बराबर चक्कर काटने लगे। पहले तो मैंने उनके अपवित्र प्रस्तावों का विरोध किया, भरसक अपने मन और उनके प्रलोभनों से संघर्ष किया, पर एक दिन न जाने निराशा और क्षोभ ने मुझ में सोये शैतान को कैसे जगा दिया और मैंने एक-एक कर गाँव के लगभग सभी पुरुषों को अपने जाल में फँसाना शुरू किया।

"मेरा सब से बड़ा शिकार गाँव का महाजन था, जो कुछ समय बाद मुझे कलकत्ता ले गया। पहले तो आशा बँधी कि शायद वह मुझसे विवाह कर लेगा, पर इतना नैतिक साहस वह नहीं जुटा सका और मैं अबाध स्वच्छन्दता के साथ अपने मार्ग पर चलने लगी! ठोकर खाये हुए नारी के स्वाभिमान ने ऐसी प्रतिहिंसा का रूप ग्रहण किया, इस बेरहमी से दुर्बल और लम्पट पुरुषों को अपना शिकार बनाना शुरू किया कि कभी-कभी तो खुद मैं भी काँप जाती। पुरुष की नैतिकता और सदाचार के धागे कितने कच्चे हैं, उसके चरित्र की ज़मीन कितनी पोली और फिसलन-भरी है इसे मैंने उसकी पूरी नग्नता के साथ देखा। मेरे एक संकेत पर धर्म और सदाचार के बड़े-बड़े पंडे कैसे चित्र लाते थे, यह देखते ही बनता था। जो भी हो, आज मैं उस सब पर गर्व नहीं करूँगी। इस जीवन ने मुझे पुष्कल धन जरूर दिया, पर उसके अनुपात में उतनी ही गहरी और बड़ी आत्म-ग्लानि भी दी। मुझे अपने-आप पर इतनी घृणा हो चली कि मैं अब सदा के लिए कलकत्ता छोड़कर यहीं लौट आई हूँ। गाँव वाले मुझे नहीं चाहते। इसलिए नहीं कि मैं पतिता हूँ, बल्कि इसलिए कि किसी भी दिन मेरी ज़बान गाँव के अधिकांश बड़ों-बूढ़ों की

सच्चरित्रता की पोल खोल सकती है। मुझे पतन और ग्लानि के इस गढ़े में धकेलने वाले अपने इस गाँव से मैंने जी-भर कर बदला लिया है—शायद इससे कुछ अधिक भी किया है। पर अब तो मैं अपनी जीवन-सन्ध्या यहीं बिता देना चाहती हूँ। अब तो मेरी एक मात्र और अन्तिम इच्छा यही है कि पाप की जो कमाई मैंने की है, वह पाप के प्रतीक इस गाँव में एक हवेली के रूप में मेरी और मेरे पाप की एक यादगार बन कर रहे। जिस धर्म, समाज और देश में नीच जाति की औरत की इज्ज़त और अस्मत का कोई मूल्य नहीं, उन्हें बदलना तो मेरे वश की बात नहीं, पर उसकी एक दुखद यादगार खड़ी करने और छोड़ जाने लायक क्षमता तो मैंने अर्जित कर ही ली है!"

सहसा अणची चुप हो गई। मुझे ऐसा लगा, मानो युग-युग से दलित, पीड़ित और लांछित नारीत्व ने आज जैसे अणची की कुण्ठा और कुत्सा के रूप में एक विरला अभिव्यक्ति पाई हो, पीछे से धीरे-धीरे उठते हुए चाँद की धीमी रोशनी में अणची की डबडबाई आँखें मानो वह सब कह रही थीं, जो उसके कहने में छूट गया था अथवा जिसे शब्दों में व्यक्त नहीं किया जा सकता। मैंने कहा—"अच्छा, चलो समय काफ़ी हो गया। मैं तुम्हें घर तक पहुँचा दूँ।"

अणची ने ओढ़नी के पल्ले से अपनी आँखें पोंछीं और बिना कुछ बोले उठ कर मेरे साथ चल पड़ी। मैंने पूछा—"पर तुम इतने बरस कलकत्ते में रहीं और मुझसे कभी मिलीं तक नहीं?"

"कैसे मिलती, भैया? एक तो मुझे तुम्हारा या तुम्हें मेरा पता ही कैसे चलता। उस महानगरी में फिर अगर आती भी, तो मैं तुमसे थोड़े ही मिलती? तुम इज्ज़तदार आदमी ठहरे, मेरे आने-जाने से न जाने लोग तुम्हारे बारे में भी क्या कुछ सोचते-कहते?"

मैं पानी-पानी हो गया। जिस नारी ने पिताजी और हमारे घर की इज्जत बचाने के लिए अपनी इज्जत, अस्मत और शरीर को नष्ट कर

डाला, उसे क्या कहूँ ? मुझे चुप देखकर अणची बोली—"क्या सोचने लगे तुम ? क्या मैं ठीक नहीं कह रही ?"

"नहीं, तुम बिलकुल ठीक कह रही हो। मैं यही सोच रहा था कि जाने से पहले तुम्हारी हवेली बनने का सारा इन्तजाम पक्का कर जाऊँगा।"

"हाँ भैया, इस काम को अब तुम्हीं करा सकते हो। ईश्वर तुम्हारी हज़ारों वर्ष उम्र करे।" कह कर अणची ने फिर अपनी आँखें पोंछ लीं और सधी हुई आवाज़ में बोली—"अच्छा तो तुम अब जाओ। मैं घर चली जाऊँगी।"

"अच्छा"—कहकर मैं घोड़े पर सवार हो गया और घर की ओर बढ़ा।

—३—

कुछ ही दिनों में चूना, सीमेंट छत की पट्टियाँ और पत्थर आदि आ गए और अणची की हवेली का काम शुरू हो गया। गाँव में किसी ने भी इस सम्बन्ध में कहा तो कुछ नहीं, पर सब की आँखों में खुशी के बदले एक प्रकार का दमित क्षोभ और बिरसता का भाव ही अधिक था। बेचारी अणची इसके पीछे छिपी भावना को भला क्या ताड़ पाती ?

मुझे आये काफी दिन हो गये थे, अतः मैं अगली दिवाली तक फिर गाँव लौटने का वादा कर चला आया। आते समय अणची मुझे स्टेशन तक छोड़ने आई। मेरे यह कहने पर कि और किसी बात की ज़रूरत हो, तो मुझे चिट्ठी लिखवा देना, अणची ने रूँधे हुए कण्ठ से केवल यही कहा—"चिट्ठी किससे लिखवाऊँगी, भैया ? यहाँ तो कोई मरने पर पानी देनेवाला भी नहीं है। पर अब है भी क्या, जो लिखवाऊँगी ? सारा इन्तजाम तो तुमने कर ही दिया है। मैं चाहती हूँ कि जब यह हवेली बन जाय, तो तुम एक बार बहू के साथ आओ और मुझे बताओ कि इसमें और क्या-क्या होना चाहिये। जो खर्च लगेगा,

वह मैं देने को तैयार हूँ, पर क्या होना चाहिए, यह तो तुम पढ़े-लिखे ही बता सकते हो, मैं निपट गँवार, निरक्षरा औरत भला वह सब क्या जानूँ !"

"सो तो मैंने ठेकेदार को सब समझा दिया है।"—मैंने एक क्षण रुक कर कहा—"नीचे के हिस्से में स्कूल और अस्पताल रहेंगे, बीच के आँगन में बच्चों के खेलने की व्यवस्था रहेगी, ऊपर जच्चाखाना, एक कमरा तुम जहाँ ठीक समझो, मन्दिर के लिए रख लेना !"

इसके बाद अणची कुछ न बोली। जब गाड़ी ने सीटी दी, तो उसने बरसती आँखों को ऊपर उठाकर काँपते हुए होंठों से केवल यही कहा—"मुझे भुला मत देना, भैया। अब तुम्हारे सिवा मेरा और कोई आसरा नहीं है।"

मेरा गला रुँध गया था, बड़ी मुश्किल से कह पाया—"नहीं, नहीं, सब ठीक ही होगा। तुम किसी बात की फिक्र न करो।"

और गाड़ी चल दी। मैं अपनी जगह पर आ कर बैठ गया। अणची की आँसूभरी आँखों ने समाज की दृष्टि में पतिता और बहिष्कृता उस नारी की पीड़ा की वह सारी कहानी भी कह दी थी, जो वह अपने मुँह से नहीं कह पाई थी। मानो आज शत-सहस्र जोड़ों में वे आँखें मुझे स्थिर दृष्टि से घूर रही थीं और उनके तीव्र प्रकाश में जैसे पिताजी के आदर्श चरित्र की असलियता, हमारे खानदान की इज़्ज़त और प्रतिष्ठा का कच्चा चिट्ठा और अणची के तूफ़ानी जीवन का उपसंहार निरावरण हो मुझसे कोई कैफियत-सी तलब कर रहे थे। हमारी सभ्यता, संस्कृति, आचार, विचार, जीवन-दर्शन, नारी के प्रति हमारी असली भावना, हमारे मानवीय और सामाजिक मूल्य-माप-दंड और रक्त की विशुद्धता का अभिमान, ऊँच और नीच का भेद आदि सब मानों एक बड़ा प्रश्न-चिह्न बन कर मेरे सामने खड़े थे। अणची की जिन सजल आँखों में ये प्रश्न मँडरा रहे थे, मानों उन्हीं की पृष्ठभूमि में नारी की दासता और विवशता में इनके उत्तर भी भूलुंठित से पड़े थे। अपने आपको मानस

चक्षुओं के आगे घटाटोप बने इस दृश्य से मुक्त करने के लिए मैंने घबराकर खिड़की से बाहर गर्दन निकाली और चारों ओर देखने लगा। कहीं कुछ भी न था। वही बालू के धोरे, जो हवा के झोंकों के साथ मिटते-बनते थे। नीरस निर्जीव गाड़ी कुछ भाड़ेतियों का बोझा ढोती अपने बने-बनाये पथ पर दौड़ी जा रही थी।

कुछ ही क्षणों में आगे के स्टेशनों और नये मुसाफिरों के आने-जाने में मैं गाँव, अणची और उसकी हवेली की बात को भूल-सा गया।

—४—

दिवाली आई और चली गई, होली भी निकल गई; पर मैं गाँव नहीं जा सका। आखिर एक दिन जब माँ की सख़्त बीमारी का तार मिला, तो परिस्थितियों के विशेष अनुकूल न होने पर भी मैं गाँव के लिए चल ही पड़ा।

लाख कहो, गाँव आख़िर गाँव ही है और अपना गाँव! पर मजाल क्या कि रत्तीभर भी कहीं कोई परिवर्त्तन हुआ हो। इस बार माँ की बीमारी के सम्बन्ध में इतनी आशंकाएँ मेरे दिमाग़ में उठ रही थीं कि मैं आस-पास की चीज़ों पर ध्यान न दे सका और सीधा घर पहुँचा।

माँ नीचे के कमरे में ही थीं। मैंने पहुँच कर जब पाँव छुए, तो मेरे सिर पर हाथ फेरते हुए बोलीं—"अच्छा हुआ जो तू आ गया, बेटा। मैं तो डर रही थी कि शायद इस बार तुझे बिना देखे ही इस दुनियाँ से कूच करना होगा। अब इस शरीर का क्या भरोसा, बेटा?"

इसी समय बाहर कुछ शोर-गुल सा सुनाई दिया। मुझे चुप और मेरे कानों को उधर लगा देखकर माँ ने कहाँ—"यह तो अब रोज़मर्रा का किस्सा हो गया है। यहाँ इस गाँव में तो अब इज्ज़त और चैन से रहना मुश्किल हो गया है।"

"यह शोर कैसा है, माँ?"

"अरे वही जो अणची थी न, कई दिनों से पागल हो गई है।

लोग उसे छेड़ने को पत्थर फेंकते हैं और वह गालियों की बौछार जब शुरू करती है, तो फिर घण्टों चुप ही नहीं होती। ऐसी भद्दी बकती है कि बस....."

"क्या कहा, अणची पागल हो गई है ?" कह कर मैं चौंक कर उठ खड़ा हुआ और तेजी से क़दम बढ़ाता हुआ बाहर की ओर चला। माँ ने तकिये का सहारा ले अधलेटी अवस्था में ही चीख़ कर कहा—"अरे, उस राँड़ के पास न जाना। पागल तो है ही, न जाने क्या करे ?"

पर माँ की बात अनुसुनी कर मैं बाहर आ चुका था। सामने खड़े अपने पुराने नौकर हीरजी से पूछा—"अणची कहाँ रहती है ? उसकी हवेली....."

"यह आप क्या कहते हैं, मालिक ? उसकी हवेली ?"—कह तथा मुँह के आगे हाथ लगाकर हँसी रोकते हुए हीरजी बोला—"रहती तो वह अपने पुराने स्थान पर ही है, पर आप उसके पास न जायँ न-जाने क्या करे, पागल जो ठहरी।" और फिर मेरे कान के पास मुँह ला तथा चेहरा गम्भीर बना कर बोला—"और सरकार उसकी बेहयायी और बदतमीज़ी तो देखिए कहती फिरती है कि बड़े सरकार की वजह से उसकी यह दशा हुई है। भला उन गोलोकवासी देवता पुरुष के बारे में ऐसी झूठी निराधार बात हम कैसे सुन और सहन कर सकते हैं ?"

"तो तुमने क्या जवाब दिया इस बात का ?"

"भला जवाब मुझ जैसा मूरख क्या दे सकता है, मालिक ? माँ जी के हुकुम से साली की जूतों से वह मरम्मत की कि ज़िन्दगी-भर याद करेगी, हाँ।"

मेरे तन-मन में आग-सी लग गई। पर इस समय हीरजी से ज्यादा तुझे अणची की चिन्ता थी। अतः तेजी से क़दम बढ़ाता हुआ मैं उसके बासे की तरफ चला।

अभी साँझ का अँधेरा बढ़ा नहीं था। धुँधलके में गाँव के मकानों

का अस्तित्व अपने असली रूप में ही दृष्टिगोचर हो रहा था। देखा, जहाँ मेरे जाने तक अणची की हवेली की दीवारें खड़ी हो चुकी थी, वहाँ अब केवल मलबे का एक ढेर खँड़हर बना दिख रहा था। उसके बीच में चार बाँस गाड़ तथा मूँज के सहारे टाट तान कर एक झोंपड़ा-सा बना लिया गया था। अभी मैं उससे कोई १०, १२ क़दम दूर हूँगा कि उधर से एक पत्थर आकर मेरे ललाट पर लगा और खून चमक आया। इसी के साथ किसी के फटे कण्ठ की चीख भी सुनाई दी—'कौन है रे भँड़ुवे ? भाग यहाँ से, नहीं तो सिर फोड़ दूँगी।"

एक क्षण के लिए मेरे पाँव रुक गये और फिर जैसे यंत्र की भाँति पुनः स्वयं चल पड़े उसी झोंपड़ी की ओर। मेरे मुँह से निकला—"सिर फोड़ क्या दोगी, फोड़ दिया है। यह देखो, मेरे ललाट से खून निकल कर खुद उसकी गवाही दे रहा है।"

पर मेरी बात जैसे किसी ने सुनी नहीं। क्षण भर निस्तब्धता रही। मैंने धीरे-धीरे झोंपड़े की ओर बढ़ना जारी रखा। मैं उसके किनारे पहुँचा ही था कि बाघिनी की तरह एक नारी मूर्त्ति उसमें से कूद कर मेरी ओर आई और दोनों हाथों से मेरा गला दबाकर कर्कश स्वर में बोली—"बस गला दबाकर यहीं मार डालूँगी। अब मुझसे बच कर नहीं जा सकोगे, हाँ।"

और मैंने देखा कि जो हाथ मेरा गला दबाए थे, वे काँप रहे थे और इतने दुर्बल थे कि मेरा गला तनिक भी दब नहीं पा रहा था। अतः मैंने उसे छुड़ाने की कोई कोशिश नहीं की। मेरी आँखें उस नारी मूर्त्ति को देखने लगीं। चेहरे के नक्शे को छोड़कर जैसे उसमें अणची का कुछ भी साम्य न था। उस दिन की वह हृष्ट-पुष्ट, सुन्दर, प्रौढ़ नारी आज कंकाल-मात्र रह गई थी। उसे देख कर किसी भुतनी की कल्पना साकार होती लगती थी। सारा शरीर सूख गया था और चमड़ी पर झुर्रियाँ पड़ कर लटक आई थीं। सिर के बाल धूलभरे, उलझे और गंज लिये

हुए थे। आँखें कोटर में धँस गई थीं और उनके नीचे काले धब्बे से पड़ गये थे। बिना दाँतों का मुँह बड़ा डरावना-सा लग रहा था। शरीर पर केवल दो कपड़े थे—एक फटी अँगिया और तार-तार हो रहा मैला और बदरंग घाघरा।

ज्योंही मेरी आँखें अणची की आँखों से चार हुईं, मेरे गले की पकड़ ढीली पड़ी और दूसरे ही क्षण बच्चों की तरह बिलख कर उसने मुझे गले से लगा लिया। फिर सिसकते-सिसकते बोली—"मुझे माफ करना, भैया। मैं होश में नहीं थी। मुझे क्या मालूम कि तुम हो?"

मैंने सहारा देकर उसे झोंपड़े के भीतर ले जाते हुए कहा—"ख़ैर, कोई बात नहीं। पर तुम्हारा यह क्या हाल हो गया है?"

उसने झटके के साथ मेरा हाथ छुड़ाते हुए कहा—"यह जाकर अपनी माँ से पूछो। अपने नौकरों से पूछो। गाँव के ठाकुरों से पूछो। और पूछो ब्राह्मणों से।" और फिर दाँत किटकिटा कर रो पड़ी—"सत्यानाश हो इन बेईमानों का।"

"पर तुम मुझे तो ग़लत मत समझो, अणची आख़िर मैंने तुम्हारा क्या बिगाड़ा है?"

"तुम सब निर्दोष हो। किसी ने कुछ नहीं बिगाड़ा है मेरा, सारा दोष मेरा है, मेरे भाग्य का है और मेरे नारीत्वका है, जो असहाय अकेला और लांछित है।" और वह फफक-फफक कर रोने लगी।

कुछ क्षण बाद मैंने साहस किया—"पर यह क्या हो गया अणची? कैसे हो गया आख़िर यह?"

उसने कोई उत्तर नहीं दिया। फिर दो-एक क्षण शून्य में देखती रही। इसके बाद सहसा मेरी ओर देखकर बोली—"वह सब एक भयंकर दुःस्वप्न था मेरे लिए। हवेली जब लगभग पूरी होने आई तो एक दिन रात को गाँव के ठाकुर, ब्राह्मण और महाजन आदि सब लाठियाँ, कुल्हाड़े, कुदाल आदि लेकर आ पहुँचे और यह कह कर कि 'हम इस कुलटा की

कोई निशानी इस गाँव में नहीं रहने देंगे' सब कुछ विस्मार कर दिया। मैंने सबके हाथ जोड़े, मिन्नतें की। कहा कि इसमें जो स्कूल, अस्पताल और ज़च्चाखाना होगा, वह तो गाँव वालों के फायदे के लिए ही होगा। पर किसी ने भी मेरी एक न सुनी। सबेरा होने से पहले-पहल वह हवेली—मेरे स्वप्नों का वह रत्नमहल मलवे का यह ढेर बन गई। कुछ दुष्टों ने मुझे भी मारा-पीटा और मेरे पास जो-कुछ था, सब लूट लिया। आज मेरी जो हालत है, तुम देख ही रहे हो और गाँव वालों ने मेरे बारे में जो-कुछ प्रसिद्ध कर रखा है, वह भी सुन ही चुके होगे। काश, तुम मेरे मरने के बाद आते, ताकि मुझे इस अवस्था में तो नहीं देखते।"

मैं कुछ नहीं कह पाया। अणची ने ही क्षण-भर बाद फिर मौन भंग किया—"अब तो अपनी हवेली के मलवे पर बैठकर जिन्दगी की आख़िरी साँसें गिन रही हूँ भैया पर देखती हूँ कि कम्बख़्त गाँव वाले इस मलबे को भी नहीं छोड़ेंगे। रोज रात को पत्थर और पट्टियाँ चोरी हो जाती हैं।"

काफ़ी अँधेरा हो चला था, अतः मैंने कहा—"अच्छा, तुम आराम करो। अब मैं चलूँगा।"

अणची कुछ नहीं बोली। उसकी केवल एक सिसक भर मैंने उठते हुए सुनी और आँखें पोंछ कर मैं चल पड़ा, पर अपने घर की ओर नहीं, स्टेशन की ओर।

# मदहोश

निमंत्रण-पत्र के नीचे किसी के हाथ की सही इस तरह घसीटी हुई थी कि साफ पढ़ने में नहीं आती थी। पर उसके नीचे ही टाइप किया हुआ नाम था—डा० मदहोश। मैं बड़ी देर तक अपना सर खुजलाता रहा कि आखिर यह भव्य आदमी है कौन ? लाख सोचने पर भी याद नहीं आ रहा था कि इस नाम का कोई व्यक्ति मेरे परिचितों अथवा मित्र-परिजनों में हो।

अभी मैं निमंत्रण पत्र को रद्दी की टोकरी के हवाले करने ही जा रहा था कि सहसा टेलीफोन की घंटी बज उठी। उस सुन्दर कलापूर्ण ढंग से छपे निमंत्रण-पत्र को मेज पर ही रख कर मैंने टेलीफोन का चोंगा उठाकर कहा—"हेलो।"

उत्तर में मानो शहद का घड़ा ढुलक गया हो, ऐसे मधुर मीठे स्वर में किसी ने कहा—"हलो माई डियर! बड़ा खुशकिस्मत हूँ कि तुम्हें पा लिया ?"

मैं हक्का-बक्का सा रह गया! आखिर यह है कौन ? मैंने कहा—"क्षमा कीजिएगा, मैंने आपको पहचाना नहीं।"

"अरे वाह यार, यह बनना कब से सीखा ? मेरी आवाज तो सात समुद्र पार से भी लोग पहचान लेते हैं।"

"मैं तो आपसे एक समुद्र पार भी नहीं, लेकिन मेरी बदकिस्मती कि आपको और आपकी आवाज को पहचानने में असफल रहा। बहरहाल मेहरबानी करके अपना शुभ नाम तो बता दीजिए।"

"गुड गाड! अरे मैं डाइरेक्टर मदहोश बोल रहा हूँ। मेरा निमंत्रण पत्र तो मिल गया न ? तो आ रहे हो न तुम पार्टी में! देखो बहानेबाजी

पीछा नहीं छुटेगा। मैं तुम्हारी प्रतीक्षा करूँगा। अच्छा बाइ-बाइ।" और मैं कुछ कहूँ इससे पहले ही टेलीफोन काट दिया गया।

मेरी निगाह एक बार फिर निमंत्रण-पत्र पर गई और जैसे वहीं उलझी रही। बढ़िया चिकने और चमकीले आइवरीफिनिश कागज पर लाल और नीली स्याही के मिश्रण में छपी पंक्तियाँ ऐसी लग रही थीं मानों किसी कुशल कलाकार ने कल्पना की रंगीनियों को एक अद्भुत लिपि में डाल दिया हो। और इसकी पृष्ठभूमि में सुनहली रेखाओं में अंकित केहरि कटि पर उरोज सँभार सँभाले, अर्द्ध-निमीलित नेत्रों के कटाक्ष फेंकती हुई एक क्षीणवस्त्रा अप्सरा मानों किसी स्वप्न-लोक का जादू उँड़ेल रही थी और उसकी लहराती हुई वेणी के फूल के नीचे लिखे दो शब्द 'डा० मदहोश' मानो इस समूची भावना सम्पत्ति की तार्किक परिणति-सी थे। मन में एक विचित्र प्रतिक्रिया हुई और जैसे मन ही मन मैंने कहा—अच्छा, तो आप हैं डा० मदहोश! नाम के झुटपटेपन ने मेरे मन में जो एक समस्या सी खड़ी कर दी थी, इस निमंत्रण-पत्र और टेलीफोन पर हुई बातचीत ने उसे जैसे और भी उलझा दिया था।

इधर काफी दिनों से पार्टियों आदि में जाना मैंने बन्द सा कर दिया था। पर आज अचानक न जाने क्यों मुझे कुछ ऐसा लगा कि और कुछ नहीं, तो सिर्फ अपनी उत्सुकता शान्त करने के लिए ही मुझे मदहोशजी को देखना, जानना और पहचानना चाहिए।

परिस्तान पार्क होटल का लान कई तेज टार्च-लाइटों से जगमगा रहा था। बीच में कई वृक्षों की डालियाँ काट-काट कर उनमें लाल-हरी-नीली बत्तियाँ लगा कर क्रिसमस ट्री बनाये गये थे। इनकी बत्तियाँ जुगनुओं की तरह झप्-झप् कर रही थीं। इन्हीं के आसपास जगह-जगह छोटी मेजें रखी हुई थीं, जिनके चारों ओर चार कुर्सियाँ पड़ी थीं, और बैण्ड 'जन गण मन अधिनायक...' से शुरू कर बार-बार सिनेमा के बाजारू गानों की ट्यून बजा रहा था। उसके पास ही एक सोफे पर दो सुन्दर तरुणियों

के बीच एक रसिया-सा बैठा नजर आया, जो कभी प्यासी आँखों से एक की ओर, कभी दूसरी की ओर देखता था और वे दोनों खीसें निपोर-निपोर कर हँसने की मानो जबर्दस्त प्रतिद्वंदिता कर रही थीं।

पार्टी में पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियाँ ही अधिक थीं और वे भी अतीव सुन्दर, चुनी हुई युवतियाँ। एक क्षण मैं ठिठका। कहीं कोई परिचित की शक्ल दिखाई न दो। मैं तय नहीं कर पा रहा था कि किधर जाकर बैठूँ। लगभग सारी मेजें भरी ही नजर आ रही थीं। इसी समय शायद मेरी स्थिति भाँपकर सोफे पर से उठकर उन रसिया जी ने मेरा उद्धार किया। पास आकर उन्होंने तपाक से हाथ मिलाया और मुक्त हास्य के साथ बोले—"अरे भई, बड़ी उम्र है तुम्हारी! अभी-अभी मैं तुम्हें ही याद कर रहा था।" और फिर हाथ छोड़कर उन्होंने मुझे छाती से लगा लिया। मैं कुछ कहूँ-समझूँ, इससे पहले ही मेरी पीठ में हाथ डाल वे मुझे अपने सोफे की ओर ले चले।

गोरा, कद्दावर, भरा-पुरा और गुदगुदा शरीर; सुगंधित तेल से चमचमाते हुए कन्धों तक घुंघराले लटकते बाल; गाल की हड्डी तक आई कलमें और राजपूती ढंग की तनी हुई नुकीली मूँछें। सीपियाई सिल्क का कुर्ता, जिसके ऊपर के दोनों सोने की बटनें खुलीं तथा जंजीर के साथ बाहर की ओर लटक रही थीं। कामुकता भरी दो चमकीली आँखें सुरमे से और भी शोख लग रही थी। यह भव्य रूप ही डा० मदहोश होंगे, यह समझते मुझे देर न लगी।

सोफे के पास पहुँचते ही उन्होंने मुझे जोर देकर उन दोनों सुन्दरियों के बीच में अपनी जगह बिठा दिया और बोले—"आप हैं मेरी सेक्रेटरी मिस उर्वशी और आप हैं मेरी पर्सनल-एसिस्टेंट मिस रंभा।"

मैंने बारी-बारी से दोनों की ओर देखा और शिष्टतावश हाथ जोड़कर नमस्कार किया। उन दोनों ने भी अपनी यांत्रिक-सी मुस्कराहट के साथ, एक अदा के साथ दोनों हाथ जोड़कर प्रति नमस्कार किया। इन दोनों

का मेक-अप देखकर मैं तो जैसे चौंधियाँ-सा गया। मैं कुछ कहूँ, तब तक रंभा ने पास पड़ी बोतल में से एक पैग ढालकर मेरी ओर बढ़ाते हुए कहा—"लीजिए।'

मैंने बात टालने की गरज से रसिया जी की ओर मुखातिब होकर कहा—"अरे, आप खड़े हैं और हम लोग बैठे रहें, यह तो बेजा बात है।"

"नहीं, नहीं, आप बैठिए। मैं अपने लिए एक और कुर्सी मँगाता हूँ।"—यह कह 'बैरा, बैरा' कहते हुए डाइरेक्टर साहब एक ओर चले गए।

उर्वशी ने रंभा के हाथ से प्याला लेकर लगभग मेरे होंठों के पास ले जाते हुए कहा—"अरे साहब, लीजिए भी न। यह नवेली बहू का-सा तकल्लुफ भला क्यों?"

मैंने धीरे से प्याला उसके हाथ से लेकर सामने की मेज पर रखते हुए कहा—"जी नहीं, तकल्लुफ की तो कोई बात नहीं। पर सच मानिए, शराब मैं कभी नहीं पीता—कभी पी भी नहीं।"

अपनी जरी की साड़ी का पल्ला मुँह से लगाकर एक शरारत भरी हँसी के साथ रंभा ने कहा—"लो सुनो! बात बनाना कोई इनसे सीखे! जैसे हम तो कुछ जानते ही नहीं। अजी जनाब, हम उड़ती चिड़िया के पर पहचानते हैं। आप सस्ते में नहीं छूटेंगे।"

उर्वशी ने कुछ सँभल कर कहा—"लेकिन कुमार साहब और सेठ ऋषिराम जी की सोहबत में रहकर आप इससे बच कैसे सके होंगे?"

"कुमार साहब! सेठ ऋषिराम जी!! मेरी कुछ भी समझ में नहीं आ रहा है कि आप किसका जिक्र कर रही हैं? कौन हैं ये?"

उर्वशी ने कुछ रुक कर कहा—"तो आप कुमार साहब के क्लासफेलो और सेठ ऋषिराज जी के सेक्रेटरी मि० वर्मा नहीं?"

मैं अपनी हँसी नहीं रोक सका। बोला—"जी नहीं न मैं वर्मा हूँ, न शर्मा। खादिम तो एक..."

मेरा वाक्य अभी पूरा भी न हुआ था कि रंभा ने सामने से आते हुए डायरेक्टर साहब को पुकार कर कहा—"गुरु जी, ये तो वो नहीं हैं।"

एक क्षण के लिए गुरु जी कुछ हत्प्रभ-से हुए, पर शीघ्र ही चेहरे का भाव बदल कर पास आते हुए बोले—"हाँ, हाँ, तो क्या हो गया? तुम्हीं ने तो कहा था कि आप मि० वर्मा होंगे। मैंने तो तुमसे तभी कहा था कि ये..." और फिर सहसा रुक कर मेरी ओर देखकर बोले—"माफ कीजिएगा, आपको मैं पहचान नहीं पाया।"

और मैं जैसे सातवें आसमान से आ गिरा! पहचान नहीं पाए तो मेरा नाम लेकर याद कैसे कर रहे थे? इस अत्यधिक आत्मीयता से छाती से लगाकर क्या जता रहे थे? पर अपने भावों को प्रकट न कर मैंने सहज विनय के साथ अपना परिचय दिया। यह देखकर मुझे कम आश्चर्य नहीं हुआ कि डाइरेक्टर साहब ने हतप्रभ होने के बजाय जैसे और भी गद्‌गद् होकर मेरा हाथ अपने हाथों में लेकर बोले—"बिलकुल ठीक विश्वास करो बन्धु, यही मैंने भी समझा था, पर ये छोकरियाँ मुझे भुलावा देने की कोशिश कर रही थीं।"

मैंने सोफे पर से उठकर डाइरेक्टर साहब का हाथ पकड़ उन्हें उस ओर बढ़ाते हुए कहा—"आप अपनी जगह बैठिए। मैं दूसरी जगह बैठता हूँ।"

फिर मेरी कमर में हाथ डालकर मुझे एक ओर ले जा कर वे कहने लगे—"सुनो मित्र, आज तो बड़ी भीड़-भब्बड़ है। कल शाम का खाना मेरे साथ खाओ, तो कुछ देर बैठें और कुछ बातें भी करें। मुझे तुमसे कुछ बहुत जरूरी बातें करनी हैं। हाँ तो पक्का रहा।' मैं कुछ कहूँ, इससे पहले ही देखता क्या हूँ कि डाइरेक्टर साहब तेजी से सामने से आनेवाले एक गबरू छैला से लगते हसीन युवक और उसके साथ आई

दोनों युवतियों के स्वागत के लिए लपक कर जा पहुँचे और एक अजीब सी अदा के साथ बोले—"बड़ी उम्र है आपकी कुमार साहब। अभी-अभी आप ही का जिक्र कर रहा था। जहे किस्मत तशरीफ़ लाइए।"

युवक ने मुँह का सिगार हाथ में ले धुआँ छोड़ते हुए पूछा—"सेठ ऋषिराम जी पहुँचे या नहीं?"

"जी नहीं सरकार, अभी तक तो नहीं आए। पर मैंने उन्हें लाने को गाड़ी भिजवाई है। अभी आते ही होंगे।"

"हूँ" कहकर युवक धीरे-धीरे इधर-उधर नजर फेंकता अपनी दोनों रंगी-पुती साथिनों के साथ आगे बढ़ा।

सोफे के पास पहुँचकर डाइरेक्टर साहब ने कहा—"आइए, आपसे उनका परिचय कराऊँ। आप हैं कुमार साहब और आप हैं राजकुमारी ऊषा और राजकुमारी निर्मला।"

मैं जैसे अपने कानों और आँखों पर विश्वास न कर सका। यह भी अजीब जादू था कि चन्द मिनटों में ही रंभा और उर्वशी, ऊषा और निर्मला नाम की राजकुमारियाँ हो गईं। वहाँ और अधिक ठहरना मेरे लिए मुश्किल हो गया और चुपचाप मैं वहाँ से खिसक आया।

उस दिन के बाद फिर गुरुजी के दर्शन करने की जैसे इच्छा ही नहीं हुई। कई दिन बीत गए और मैंने समझा कि इतने महँगे होटल में भला दो कमरे लेकर अब तक रहना कोई सरल काम थोड़े ही है। सो शायद वे चले ही गए होंगे। अस्तु—

पर उस दिन के अखबार में जब यह पढ़ा कि अपनी नई फिल्म के लिए अभिनेता-अभिनेत्रियाँ चुनने के सिलसिले में वे अभी तक परिस्तान पार्क-होटल में ही टिके हैं, तो मेरी उत्सुकता जैसे फिर जाग उठी और एक बार निकट से उन्हें फिर देख लेने का लोभ-संवरण करना मुश्किल हो उठा। बस, मैं सीधा होटल की ओर ही तो चल पड़ा।

लेकिन यह क्या! आज होटल बाहर से ही परिस्तान-सा लग रहा

था !•मुख्य द्वार पर सजे-सजाए युवक-युवतियों का एक खासा बड़ा क्यू लगा था। क्यू में कोई बेकार नहीं खड़ा था। कोई युवक बार-बार घड़ी देखता, तो कोई सिगरेट का कश खींचकर धुएँ के गोले निकालता और भौंहें इस तरह तानता मानो कोई अदृश्य नायिका घायल ही होने वाली है ! कोई टाई ठीक करता, पैण्ट की क्रीज और जूतों की पालिश की तरफ देखता; तो कोई दोनों हाथों से बड़ी नजाकत से छूकर बालों को देखता कि कहीं हवा से बिखर तो नहीं गए हैं और फिर चश्मे को ठीक से आँखों पर लगाकर इधर-उधर देखने लगता। युवतियों की व्यस्तता के तो कहने ही क्या ? बार-बार बैग में से शीशा निकाल कर पफ़ से गालों और गर्दन का पाउडर ठीक करने में मानों वे पाश्चात्य युवतियों के भी कान काट रहा थीं। रह-रह कर दोनों होंठों को इस तरह परस्पर दबा रही थीं कि लिपस्टिक का सन्तुलन कहीं ऐन मौके पर ही धोखा न दे जाय।

क्यू बड़ी धीमी गति से आगे खिसक रहा था। उसे देखता हुआ जब मैं गुरुजी के कमरों के सामने पहुँचा, तो देखता क्या हूँ कि बाहर एक बैरा सन्तरी की तरह खड़ा है और एक के बाहर आने पर ही दूसरे को भीतर जाने देता है। मुझे क्यू से अलग आते देखकर उसने तत्परता से सलाम किया और आजिजी से बोला—"हुजूर, लाइन में रहिए। ऐसे जाने का आर्डर नहीं है।"

"किसका आर्डर नहीं है ?" मैंने सहज भाव से कहा—"देखो तुम गलत समझ रहे हो। हम इण्टर-व्यू के लिए नहीं आए हैं, वैसे ही गुरुजी से मिलने आए हैं।"

"मुझे अफसोस है, हुजूर, आज और किसी को जाने देने का मुझे आर्डर नहीं है।"—बैरे ने विनीत भाव से कहा।

क्यू में खड़े कई व्यक्तियों ने मुझे बड़ी बेधक दृष्टि से सिर से पाँव तक देखा और उपेक्षा से मुँह फेर कर अपनी बारी की प्रतीक्षा करने लगे। मैं कुछ सकपका-सा गया। सोचा, इस तरह बिना बुलाए या बिना समय

तय किये आकर मैंने कोई अक्लमन्दी नहीं की है, अतः आज लौट ही चलना चाहिए।

इसी समय सहसा दरवाजे पर गुरुजी आ पहुँचे। हाथ जोड़कर बड़े नाटकीय ढंग से क्यू को संबोधित कर उन्होंने कहा—'इफ यू डौंट माइंड जैन्टलमैन, लेडीज फर्स्ट प्लीज!' और फिर एक नाटकीय मुस्कराहट के साथ अपनी अँगरेजी की अनभिज्ञता को छिपाते हुए राष्ट्रभाषा का दामन थाम कर गिड़गिड़ाए—'सज्जनो, आप यदि इजाजत दें, तो पहले देवियों की इण्टर-व्यू खत्म कर ली जाय, तब आपकी हो। वजह यह कि इनमें से बहुत सी खड़ी-खड़ी थक गई हैं। और आप तो ईश्वर की दया से दिन भर भी खड़े रह सकते हैं।"

क्यू में से एक ने कहा—"कोई आपत्ति नहीं।" इसी समय एक दूसरा व्यक्ति बोला—"यह समानता का युग है। यह भेद-भाव क्यों?"

गुरुजी ने जोड़े हुए हाथों को ऊपर उठाकर अत्यन्त विनय के साथ कहा—'यह आपकी मर्जी और इजाजत से ही होगा।' और फिर कई लोग बोल उठे—'हाँ, हाँ, ठीक है। हमें कोई एतराज नहीं।'

उच्छल हास्य के साथ गुरुजी ने जोड़े हुए हाथों पर सिर झुका दिया। कई युवक क्यू से निकल कर पीछे की ओर चल पड़े और युवतियाँ उनके स्थान पर आगे ही हो गईं।

जब गुरुजी ने सिर उठाया, मैं उनके सामने था। बाग-बाग हो मेरी बाँह पकड़ कर भीतर खींचते हुए वे बोले—"हल्लो! भई तुम! बड़े मौके से आए। मैं तुम्हें याद ही कर रहा था। अच्छा, देखो, चन्द मिनट यहाँ बैठो। मैं जरा उधर होकर आया।" और बिना मेरी हाँ-ना की प्रतीक्षा किए ही वे पर्दा हटाकर पास के दूसरे कमरे में दाखिल हो गए। मैं चुपचाप एक आरामकुर्सी पर जाकर एक पत्रिका उठाकर पन्ने उलटने-पलटने लगा।

सहसा पास वाले कमरे से सुनाई दिया—"यू आर रियली ए स्मार्ट नाटी गर्ल !"

फिर दूसरी आवाज—"ओ थैंक यू वेरी मच, कुमार साहब ।"

और फिर गुरुजी बोले—'कुमार साहब आप विश्वास नहीं करेंगे, क्यू में खड़ी इस लड़की पर सबसे पहले मेरी नजर पड़ी थी और मैंने तो उसी वक्त इसका नाम ही मिस स्मार्ट रख दिया था !'

"और सुनिए, मिस स्मार्ट"—कुमार ने जरा हँसते हुए कहा—"आपको हम लोगों के साथ बिल्कुल बेतकल्लुफी से मिलना-जुलना होगा । आपको इसमें व्यर्थ का संकोच और झिझक नहीं होनी चाहिए, क्योंकि आखिर तो सौन्दर्य और सेक्स-अपील का ही मनोरंजन में सर्वाधिक महत्व है; वर्ना फिर लड़कियों की वनिता-विश्राम या विधवा-आश्रमों में ही क्या कमी है ?"

खीसें निपोर कर जैसे गुरुजी ने साथ दिया—"खूब कहा ! अरे वाह रे मेरे राजा ! मालूम होता है, फिल्म-परिचालन का आपका यह मौलिक अनुभव सबको मात दे देगा !"

"अच्छा, तो अब आप जा सकती हैं । कल शाम को ७ बजे आएँ । अब नैक्स्ट जो हो, उसे भेज दें ।"

"अच्छा, धन्यवाद । नमस्कार ।"

एक क्षण सन्नाटा रहा । फिर गुरुजी बोले—"कुमार साहब, दूसरी लड़की आये, तब तक आपको एक खुशखबरी दे दूँ । मेरे मित्र मिस्टर शर्मा आए हुए हैं । यहाँ के सेठों में उन्होंने ७ लाख के शेयर तो बेच दिये । अब हमें सिर्फ ८ लाख की फिक्र और करनी है ।"

"उसकी आप फिक्र न करें । जरा एक-दो अच्छी लड़कियाँ हाथ लगने तो दीजिए, फिर देखिए कि रुपया आपके कदमों पर बरसेगा ।"—कुमार साहब बोले ।

मैं तो जैसे सकते में आ गया—सात लाख ! पिछली बार मैं मि० वर्मा बनाया गया था और इस बार मि० शर्मा ! वाह रे गुरुजी ! सहसा मेरा माथा ठनका। पता नहीं आगे क्या हो, सो मैं तो बिना गुरुजी से मिले ही चुपचाप वहाँ से खिसक आया।

कई दिन बीत गए। पता नहीं गुरुजी का क्या हुआ और क्या न हुआ उनकी फिल्म-कम्पनी का। एक हल्की छाप स्मृति-पट पर छोड़ कर उनका चित्र जैसे समय के साथ धुंधलाने लगा।

एक दिन सहसा टेलीफोन की घंटी ने जैसे फिर नींद से जगा दिया। चोंगा कान से लगा कर ज्यों ही मैंने 'हलो' कहा, काँपती हुई जनानी-सी आवाज में किसी ने कहा—"क्या आप मि० वर्मा—नहीं, मि० शर्मा बोल रहे हैं ?"

"आप कौन हैं ?"

"मैं मिस रेखा हूँ।"

"कहिए क्या बात है ?"

"मैं आपसे कब और कहाँ मिल सकती हूँ ? बड़ा जरूरी काम है।"

"आखिर ऐसा क्या काम है ?"

"गुरुजी आपसे मिलना चाहते हैं। वे इस समय पुलिस की हाजत में हैं। साथ में वह शोहदा भी है, जो कहीं का महाराज कुमार बना हुआ था ! दोनों पर गबन और बलात्कार के अभियोग हैं। आज सुबह दोनों बिना होटल का बिल चुकाए ही फरार होने की चेष्टा करते समय पकड़ लिये गये। बताइए मैं आपसे कहाँ मिलूँ। बड़ी जरूरी बातें करनी हैं आपसे।"

मुझे जैसे एकबारगी काठ मार गया हो ! समझ में नहीं आ रहा था कि क्या करूँ, क्या कहूँ ? इसी बीच टेलीफोन पर जैसे हलो-हलो की

बाढ़-सी आने लगी और मैं तय नहीं कर पा रहा था कि क्या कहूँ ? फिर जरा साहस कर मैने बनावटी आवाज में कहा में कहा—"माफ कीजिएगा मिस रेखा देवी, ए तो रॉंग-नम्बर हय।" और चुपचाप चोंगा फोन पर रख कर कमरे में टहलने लगा। दिमाग जैसे कुछ काम ही नहीं कर रहा था।

# सड़क का मागी

गरमी के दिनों में जब दोपहर की धूप तेज होती है, तो कलकत्ते की सड़कें प्रायः सूनी-सी हो जाती हैं। दिन-भर घूम-घूम कर भीख माँगने वाले भिखमंगे और राहगीर मानो जहाँ-तहाँ छाया ढूँढ़ कर सुस्ताने चले जाते हैं। अपने घर से ट्राम-बस के अड्डे तक जाने वाली छोटी-सी सड़क को भी प्रायः इसीलिए मैं दोपहर में खाली पाता था।

पर एक दिन उस पर से गुजरते हुए मैंने कुछ भिखमंगों को आपस में झगड़ते देखा और कुतूहलवश मेरे कान उनकी बातें सुनने को खड़े हो गये। एक भिखमंगे ने, जो कूड़े के एक ढोल में से झुक कर कुछ बीन रहा था, सीधे खड़े होकर क्रुद्ध मुद्रा से आवेश-भरे स्वर में कहा—"साला सड़क का मागी!" और फिर झुक कर ढोल में से कुछ बीनने लगा।

मैं समझ नहीं पाया कि आखिर वह यह सब किससे कह रहा है? इसी समय देखा कि अनेक स्त्री और पुरुष भिखमंगों की आँखें एक साथ एक भिखारिन की ओर मुड़ीं, जो अत्यन्त श्यामवर्ण की होने पर भी देखने में सुन्दर और सुडौल थी। उसके बाल उलझे थे। कानों में कई बालियाँ थीं। शरीर पर एक हरा ब्लाउज और लाल घाघरा था, जो दोनों ही मैल से काले और तार-तार हो रहे थे। बिजली के खंभे का सहारा लेकर खड़ी वह गन्ने का एक टुकड़ा दाँतों से छील-छील कर चबा रही थी। पर गन्ने को छीलने और चबाया अंश बाहर थूकने में वह मुँह को कुछ इस तरह जरूरत से ज्यादा बिचका रही थी, मानो यह सब गन्ना चूसने से ज्यादा वह किसी को चिढ़ाने के लिए ही कर रही हो।

मुँह का गन्ना चूस कर उसने उसे निकाल कर हाथ से कूड़े के ढोल की ओर फेंका, जो उसमें से कुछ चुनने वाले भिखमंगे के सिर पर जाकर

गिरा। उसने सिर उठाया और तन कर सीधा खड़े होते हुए एक क्षुब्ध दृष्टि से उस भिखारिन की तरफ देखा। उसकी शोख आँखें मानों शरारत से व्यंग्य-भरी मुस्कराहट बिखेर रही थीं, जो उस भिखमंगे के लिए जले पर नमक डालने-सी साबित हुई।

एक क्षण उसने नारी के इस व्यंग्य-वाण को मर्माहत हो झेलने की कोशिश की, पर दूसरे ही क्षण जैसे पुरुष का दर्प आहत होकर उसे उसके पास खींच लाया। पास आकर उसने एक बार अपने दोनों कीचड़-सने हाथों की ओर देखा और फिर घृणा तथा क्षोभ-भरे स्वर में 'साला सड़क का मागी'—कह कर उसके मुँह पर थूक दिया! और फिर कूड़े के ढोल की ओर लौट पड़ा।

मुस्कराने वाली भिखारिन का चेहरा फक् हो गया। उस पर क्रोध की तमतमाहट दौड़ गई। उसने हाथ से मुँह पर गिरा थूक पोंछ कर घाँघरे से हाथ पोंछ लिया और एक मर्म-भरी दृष्टि से फुटपाथ की बाईं ओर बैठे एक दूसरे जवान भिखमंगे की ओर देखा। उसने हाथ में लिया हुआ टिन तथा कन्धे पर रखा हुआ बोरा वहीं रखा और दौड़ कर पहले भिख-मंगे को पीछे से ऐसा धक्का दिया कि वह मुँह के बल ढोल के ऊपर जाकर गिरा।

सँभल कर उसने पीछे देखा और कड़क कर कहा—"क्यों बे साले, तू क्यों हमारे बीच में पड़ता है?"

जवान भिखमंगे ने आगे बढ़ते हुए कहा—"इसलिए कि अब वह मेरी है। अगर तूने उसे छुआ या उसकी बेइज्जती की, तो समझ लेना कि तेरी जान की खैर नहीं है।"

"अच्छा यह बात है?"

"हाँ, यही बात।" जवान भिखमंगे ने उसके पास पहुँचकर एक झटके के साथ गर्दन ऊँची कर अपना मुँह उसके मुँह के बिलकुल पास ले जा कर कहा।

पहले भिखारी ने, जिसकी प्रौढ़ता अब वार्धक्य की ओर बढ़ने लगी थी, हाथ से जवान भिखारी को दूर हटाते हुए क्रुद्ध दृष्टि से उस भिखारिन की ओर देखा और दाँत पीसते हुए कहा—"अच्छा यह बात है। साला सड़क का मागी।"

और सब भिखारी ठहाका मार कर ऐसे हँस पड़े, मानो कोई नाटक देख रहे हों। भिखारिन ने प्रौढ़ भिखमंगे की ओर घृणा-भरी दृष्टि फेंकते हुए कहा—"तू बाजी हार चुका है, कल्लू। अब अपना मुँह लेकर चला जा यहाँ से। साला बड़ा तीसमार खाँ बनता फिरता था।"

जवान भिखारी ने एक व्यंग्य-भरी मुस्कराहट से कल्लू की तरफ देखा, जो पराजय और अपमान के दंशन से मर्माहत हो जोर-जोर से हाँफने लगा था। उसके बेतरतीब बाल चेहरे पर बिखर आये थे, जिनसे पीछे से चमकने वाली दो आँखों में मानों खून उतर आया था।

"आ रे जुम्मन, चलें"—कह कर भिखारिन ने अपना टिन और बोरे का टुकड़ा उठाया और जवान भिखारी की तरफ बढ़ते हुए कहा—"चल, कहीं चलकर अपनी शादी की दावत करें। आज दिन भी कितना सुहाना है।"

जुम्मन की बाँछें खिल गईं! उसने हसरत-भरी एक नजर से जवान भिखारिन को देखा और फिर मुस्करा कर कहा—"शादी की दावत या सुहागरात?"

"वही सही"—कह कर भिखारिन ने एक सलज्ज दृष्टि कल्लू पर डाली और फिर जुम्मन की तरफ देख कर बोली—"मगर यहाँ किसी का दिल जलाकर नहीं।"

जुम्मन ने अपना टिन और बोरा उठाया और भिखारिन के कमर में हाथ डाल कर आगे बढ़ते हुए बोला—"तू छोड़ ये फालतू बातें; जलने वाले तो जला ही करेंगे।"

भिखारिन जुम्मन की ओर देखकर हँस भर दी और दोनों चल पड़े। कल्लू को ऐसा लगा, मानो उसके शरीर से आत्मा निकल कर जा रही है।

और भिखारी भी इधर-उधर हो गये। कल्लू ने चेहरे पर बिखर आये बालों को एक झटके के साथ पीछे फेंका और फिर ढोल में से कुछ बीनने लगा।

—२—

फुटपाथ पर एक पंक्ति में कई भिखारी लेटे थे। इन्हीं में रानी और जुम्मन भी थे। बातें करते-करते थक कर जब जुम्मन उँघाने लगा, तो रानी चुप हो गई। उसकी आँखें आसमान को देख रही थीं। रुई के फाहों की तरह बादल उड़े जा रहे थे। कभी वे चाँद को ढँक कर चारों ओर अँधेरा कर देते थे और कभी उनमें से झाँक कर चाँद अपनी रुपहली मुस्कुराहट से मानो सबको चमका देता था। सहसा घटाटोप हुआ, बिजली चमकी और एक तेज बौछार आ गई। सब भिखारी हड़बड़ा कर उठे और पास ही के एक बड़े भवन के बार्जे के नीचे के फुटपाथ की ओर भागे। उनके पीछे-पीछे जुम्मन का हाथ पकड़े रानी भी थी।

पर जब वे इस बार्जे से ढँके फुटपाथ पर पहुँचे, तो देखा कि सारी जगह दूसरे भिखारियों ने दखल कर ली थी। अब जो जगह बची थी, वहाँ पानी आता था; अतः सोया नहीं जा सकता था। इसलिए दोनों एक बंद दूकान की सीढ़ी पर अपना बोरियाँ-बँधना रख कर बारिश थमने या जगह होने की प्रतीक्षा में बैठ गये। जुम्मन ने अलसाई आँखों से पूछा—"यों कब तक बैठे रहेंगे?"

"जब तक बारिश न रुके या इन मुओं में से कोई यहाँ से न खिसके।"—रानी ने सहज भाव से कहा।

इसी समय फुटपाथ के किनारे से गुजरते हुए एक राहगीर ने सिग-

रेट का सुलगता टुकड़ा मुँह से निकाल कर फेंक दिया। जुम्मन ने लपक कर उसे उठा लिया और रानी के पास आकर बैठते हुए बोला—"अल्ला कसम, आज दिन भर सिगरेट का मुँह तक भी नहीं देखा।"

अपने बायें कान पर टिका बुझी हुई बीड़ी का एक टुकड़ा निकालते हुए रानी ने कहा—"तो गधे के ताऊ, मुझसे पहले कहा क्यों नहीं? यह मैंने तेरे ही लिए तो रखी थी। मुझे देना याद ही नहीं रहा।"

"और मुझे माँगना याद नहीं रहा।" हँसकर जुम्मन बोला—"असली बात यह है रानी जी कि तुम्हें देखने के बाद मुझे ऐसी छोटी-मोटी बातों का ख्याल ही नहीं आता।"

"तो कैसी बातों का खयाल आता है रे?"—रानी ने पूछा।

"जुम्मन ने उसके हाथ से बीड़ी का टुकड़ा लेकर सिगरेट के टुकड़े से सुलगाया और उसे मुँह में दबा सिगरेट का टुकड़ा उसे देते हुए कहा—"ले तू यह पी, मैं तेरी लाई हुई बीड़ी ही पिऊँगा।"

"ना, सिगरेट तू ही पी, मैं बीड़ी ही···"

"यह नहीं होगा"—कहकर एक हाथ से बीड़ी का टुकड़ा मुँह से निकाल कर पीछे करते तथा दूसरे से सिगरेट का टुकड़ा रानी के हाथ में थमाते हुए जुम्मन ने कहा—"तू रानी है, शाहंशाह जुम्मन की मलिका और मैं हूँ तेरा एक नाचीज खादिम। तू सिगरेट ही पी।"

"बस, बस, रहने दे।" मुस्कुरा कर रानी ने कहा और सिगरेट का टुकड़ा अपने मुँह के पास ले जाते हुए बोली—"बातें बनाना तो कोई तुझसे सीखे।"

बीड़ी का एक कश खींच कर जुम्मन ने कहा—"हहाहूहूहू, क्या खुशबू है इस बीड़ी में, वल्लाह, हैच हैं दुनिया की सारी सिगरेटें इसके सामने।"

"अबे गधे, यह बीड़ी नहीं, मुहब्बत की खुशबू है!" कह कर रानी

ने उसके हाथ से बीड़ी छीन कर अपने मुँह में दबा ली और सिगरेट का टुकड़ा उसके मुँह में देते हुए कहा—"ले, अब इसे पीकर देख।"

इसी समय एक छोर पर लेटा हुआ एक भिखारी उठा और अपना बोरा कन्धे पर डाल कर बड़बड़ाता हुआ चल दिया। रानी उठी और जुम्मन का हाथ खींचती हुई उस ओर दौड़ पड़ी। दोनों ने जल्दी से अपने बोरे बिछाये और लेट गये। बीड़ी और सिगरेट के टुकड़े खत्म हो आये थे, इसलिए दोनों ने उन्हें फेंक दिया और चुप हो नींद की प्रतीक्षा करने लगे। करवट बदल कर जुम्मन ने पूछा—"आज तू कहाँ-कहाँ गई, रानी?"

"मैं बहुत-बहुत जगह गई। पैसे तो ज्यादा नहीं मिले, पर खाने को खूब अच्छे-अच्छे माल मिले। इतना ज्यादा खा गई कि पेट फटा जा रहा है। इसी से नींद नहीं आ रही है।"

"अच्छा तो ये ठाट हैं रानी जी के।"

रानी मुस्कुराई और पूछा—"और तू?"

"मेरी न पूछ, मैं न औरत हूँ, न जवान। मुझे भला कोई भीख क्यों देगा? बीसियों जगह भटकता फिरा, पर हाथ कुछ न पड़ा। मैदान में फुटबाल के मैंच के बाहर बड़ी देर तक खड़ा रहा, पर लोग खुद ऐसे भूखे हो गये हैं कि पैसा देना तो दूर रहा, कागद-पत्ते तक भी ऐसी सफाई से चाट जाते हैं कि उनमें भी कुछ न छूटे!"

"तो तूने क्या खाया फिर?"

जुम्मन चुप रहा। इस बार रानी कुछ विचलित हुई। उसने बाँह पकड़ कर जुम्मन को झँझोड़ा और फिर पूछा—"मैं पूछती हूँ कि तू ने क्या खाया?"

जुम्मन फिर चुप रहा। इस बार रानी उठ बैठी। उसने हाथ पकड़ कर जुम्मन को खींच कर बिठाया और दोनों हाथों से उसका मुँह अपनी ओर को करके पूछा—"मैं पूछती हूँ कि तूने आज क्या खाया?"

जुम्मन की पलकें झुक गईं और होठों-ही-होठों में जैसे उसने फुस-फुसा दिया—"कुछ नहीं।"

रानी एकबारगी चौंक उठी। बिगड़ कर बोली—"तेरे में कब अकल आयगी रे, जुमने ? नहीं खाया, तो मुझ से कहा क्यों नहीं ? मैं क्या मर गई थी ?"

"कहने से तू क्या करती ?"—दबी जबान में जुम्मन ने कहा।

"करती तेरा सिर"—कह कर रानी ने सिरहाने रखा अपना टिन बोरे के नीचे से निकाला और उसे जुम्मन के हाथों में थमाते हुए कहा —"ले, गिट; इसमें रोटी, पूड़ी, कचौड़ी, मिठाई, साग, दाल, मूड़ी, दही, अचार वगैरह सबकी जूठन है। पेट-भर कर खा ले।"

और तुनक कर रानी लेट गई। जुम्मन ने एक क्षण दबा-दबा कर भरे हुए टिन की ओर देखा और दूसरे ही क्षण रानी की ओर, और फिर खाने लगा। पोंछ-पाँछ कर वह टिन की सारी चीजें चाट गया और इसके बाद बाँह से मुँह पोंछा, टिन को रानी के सिरहाने रखा और उसी के पास लेट गया।

रानी की आँखें अभी भी आसमान तो नहीं, पर बारजे की छत पर लगी थीं। जुम्मन ने दबे स्वर में प्रश्न किया—"रानी, तू मुझे छोड़ कर तो नहीं चली जायगी ?"

रानी चुपचाप लेटी रही। जुम्मन ने दूसरा प्रश्न किया—"तुझे जो आज पहुँचाने आया, वह कहाँ का भिखारी था ?"

"जहन्नुम का"—रानी ने झुँझला कर कहा—"तू सोयेगा भी या फालतू का माथा पचाता रहेगा ? तू खुश न हो, तो बोल मैं अभी इसी वक्त तुझे लात मार कर चली जा सकती हूँ।"

"अल्ला कसम, मेरा यह मतलब नहीं था, रानी। मैं तो यूँ ही पूछ रहा था।" जुम्मन ने आजिजी से कहा।

रानी कुछ नहीं बोली। जुम्मन उसका एक हाथ अपने दोनों हाथों में लेकर सहलाने लगा। पता नहीं कब दोनों को नींद आ गई।

—३—

फुटपाथ के किनारे लगे पेड़ की छाया में बैठा कल्लू अपने मैले और फटे हुए कमीज को उलट कर उसमें से जुएँ निकाल रहा था। जुम्मन उसके पास आकर बैठ गया। उसके चेहरे पर हवाइयाँ उड़ रही थीं। कल्लू ने उसके आकर बैठने के बावजूद न तो उसकी ओर देखा, न उससे कोई बात ही की—मानो उसने उसे देखा ही न हो। आखिर जुम्मन को ही बात छेड़नी पड़ी, "कल्लू मेरी कुछ मदद कर। मैं बड़ी परेशानी में हूँ।"

कल्लू कुछ न बोला, जैसे उसने कुछ सुना ही न हो। इस पर जुम्मन ने उसका कन्धा पकड़ कर झँझोड़ा और गिड़गिड़ा कर बोला—"कल्लू, मुसीबत के वक्त लोग दुश्मन की भी मदद करते हैं और तू तो मेरा पुराना दोस्त होकर भी यों क्या कर रहा है?"

"यह बात उस रोज भी क्या तुझे याद थी, जब तू न सिर्फ रानी को ही मुझसे छीन कर ले गया, बल्कि उसके लिए मेरी जान तक लेने को उतारू हो गया था?"

"उस वक्त मैं होश में नहीं था, कल्लू। पर मुझे माफ कर दे उस गलती के लिए।"

"और इस वक्त मैं होश में नहीं हूँ, जुम्मन! जैसी गलती तूने की है, उसकी कोई माफी नहीं। अब तेरा कलेजा जलता देख कर ही मेरा कलेजा ठंडा होगा।"

जुम्मन चुप हो गया। उसकी गर्दन झुक गई। कुछ क्षण बाद वह बुदबुदाया—"तू ने रानी को देखा है कहीं?"

"देखा है? क्या मानी इसके? अरे, रोज ही तो देखता हूँ।"

"कहाँ? किसके साथ?"

"चतुरे के साथ। अब उसने हमारे मोहल्ले में भीख माँगना भी छोड़ दिया है।"

"चतुरे के साथ! अच्छा, तो···"

तैश में आकर जुम्मन उठ खड़ा हुआ। कल्लू जोर से ठहाका मार कर हँस पड़ा और बोला—"मजनू न बन जुमने। अरे वह कोई तेरी ब्याहता जोरू थोड़े ही है, जो उस पर तेरी जोर-जबरदस्ती चलेगी? अरे, वह तो साला सड़क का मागी है, कल तेरे साथ, आज मेरे साथ, परसों और किसी के साथ। इसमें बुरा मानने की भला क्या बात?"

"मगर कल्लू, तू नहीं जानता, मैं उसे कितनी···"

"मोहब्बत करता होगा, यही न? पर बरखुरदार, जरा अपनी शक्ल भी तो शीशे में देख और जरा सोच कि हमारी दुनिया में और मोहब्बत।"

"कल्लू, तू पता नहीं मुझे क्या समझता है?"

"पागल, बेवकूफ और नासमझ। और क्या?"

"तेरी जलन और नफरत का सबब मैं जानता हूँ, कल्लू।" कह कर जुम्मन ने एक ठंडी साँस ली और उठकर चल दिया।

इसके बाद जुम्मन भीख माँगना जैसे भूल ही गया। रात-दिन उसकी आँखें रानी की तलाश में रहतीं और उन्हीं के बताये रास्तों पर वह भटकता रहता। भूख के कारण उसका शरीर एकदम कृश और चेहरा बड़ा डरावना-सा हो गया था।

एक दिन भटकते-भटकते वह एक बड़े मकान के सामने पहुँचा, जहाँ भिखारिनों की खासी भीड़ लगी थी। एकटक कर उसने सारी भिखारिनों को देखा। सहसा उसकी आँखें एक के चेहरे पर जाकर रुकीं। यह रानी थी। पर उसके चेहरे पर अब लापरवाही और अल्हड़पन की जगह एक गांभीर्य और दयनीयता-सी आ गई थी। चेहरा मुरझा-सा गया था। गर्भवती होने के कारण पेट ऊपर उठ आया था और आँखें मानो

गढ़े में धँस गई थीं। इस दृश्य ने एक क्षण जुम्मन के मन में एक कचोट-सी पैदा की और दूसरे ही क्षण वह उसके पास जा खड़ा हुआ।

जुम्मन को देखते ही रानी का चेहरा और मुरझा गया। वह काँप भी रही थी, क्योंकि उसके हाथ का टिन अनायास नीचे जा गिरा था। उसके होंठ काँपने लगे थे, जिससे उसके मुँह से एक भी शब्द नहीं निकल पा रहा था। जुम्मन ने क्रोध के मारे अपना निचला होठ काट लिया और बड़ी वितृष्णा से कहा—"साला सड़क का मागी।"

अभी रानी अपना मुँह जुम्मन की तरफ से हटाने का सोच ही रही थी कि उसने दोनों हाथों से अपना टिन पूरे जोर के साथ रानी के सिर पर दे मारा। एक चीख के साथ रानी वहीं गिर पड़ी और उसके सिर से खून बहने लगा।

इसी समय चतुरे की बलिष्ट बाहों ने जुम्मन को धराशायी कर दिया और उसकी छाती पर बैठ कर उसने घूँसों से उसके मुँह को चिगदना शुरू किया।

भिखमंगों में एक अजीब-सी हड़बड़ी मच गई और वे इधर-उधर भाग खड़े हुए। खड़ा रहा अकेला कल्लू, जो व्यंग्य-बुझी मुस्कराहट के साथ रानी के लहूलुहान मुँह के पास झुक कर कह रहा था—"साला सड़क का मागी कहीं का। तेरी यही दुर्गत होनी थी।"

जुम्मन जब अधमरा-सा हो गया, तो उसे छोड़कर चतुरे ने एक लात और जमाई और फिर जब रानी की ओर मुड़ा, तो उसके पास खड़े कल्लू को देख कर उसका चेहरा जैसे और भी लाल हो गया। किन्तु उसके पास आने से पहले ही कल्लू वहाँ से हट चुका था।

# प्रतुल

प्रतुल ने आकर जैसे उमा के विरस दाम्पत्य-जीवन के दीपक की मन्द पड़ती हुई लौ को एक बार फिर उकसा दिया था। बहुत से कारण थे जिनसे उमा अभी माँ बनना नहीं चाहती थी—इसलिये नहीं कि अभी उसके विवाह को कुल जमा चार ही वर्ष हुए थे, न इसलिये कि माँ बनने के बाद कम-से-कम कुछ समय के लिए उसे अपना अध्यापन-कार्य छोड़ देना पड़ेगा; बल्कि...। पर क्या फायदा अब वह सब सोचने से ? अब तो प्रतुल ने आकर जैसे उसके जीवन की धारा को ही बदल दिया था—उस धारा को जो न जाने कब-कहाँ रुककर किसी विदिशा को चल पड़ने को बेचैन और उतावली हो रही थी।

जब प्रतुल हुआ ही हुआ था, तो सहमी दृष्टि से उसकी ओर देखकर उमा मूर्तिवत् देखती ही रह गयी थी—मानो वह निर्णय नहीं कर पा रही थी कि उसे अपना प्यार दे या घृणा ? पर न जाने मन के किस अज्ञात कोने में छिपे पड़े मातृ-वात्सल्य ने आकर उसकी सारी दुविधा-आशंका का बाँध तोड़कर उसमें कुछ ऐसी प्रेरणा पैदा कर दी थी कि उसने बार-बार चूमकर प्रतुल को छाती से चिपटा लिया। उसकी आँखें भर आयी थीं। पर उसकी यह भावना स्थायी नहीं रह सकी। अक्सर जब वह अपने और अपने भविष्य के बारे में सोचने लगती, तो उसे प्रतुल पर बड़ा क्रोध आता, बड़ी घृणा होती उससे। किन्तु जब वह सामने आता, उससे चार आँखें होते ही मानो उमाका सारा राग-द्वेष-घृणा आदि पहली मुस्कान के साथ ही तिरोहित हो जाते।

ज्यों-ज्यों प्रतुल बड़ा होने लगा, वह उमा ही नहीं, सारे मोहल्लेवालों के लिए एक समस्या बन गया। मोहल्ले के बच्चे तो उससे डरते ही थे,

उसके माँ-बाप भी उसे छेड़ने का साहस नहीं करते थे। एक बार एक पड़ोसिन आँचल में शीशे के टुकड़े भरकर लायी और उन्हें उमा को दिखाते हुए बोली—"देखो बहन, यह गिलास मैंने कल ही तो मँगाया था और तुम्हारे लाड़ले ने अभी-अभी इसे तोड़ डाला।" उसके पीछे-पीछे आते हुये प्रतुल ने कहा—"इसमें भला मेरा क्या कसूर, माँ? इस पर लिखा था 'न टूटनेवाला काँच'। मैंने आज़माया, तो वह टूट गया! अब इसी से पूछो कि गलत लेबिल वाला गिलास लायी ही क्यों?" उमा मन-ही-मन मुस्करायी और पड़ोसिन को दूसरा गिलास मँगवा देने का आश्वासन देकर बिदा किया।

उसे गये अभी पाँच मिनट भी न हो पाये थे कि भींगे कपड़ों-सहित एक अन्य स्त्री ने आकर कहा—"देखिये बहूजी, आपके सपूत ने मेरा घड़ा फोड़ दिया। कहता था कि जब सब जगह पानी के नल लग गये हैं, तो यह जंगलीपन क्यों?" उमा ने आगन्तुका से माफी माँगी और घड़े के पैसे देकर उससे जल्दी घर जाकर कपड़े बदलने का अनुरोध किया।

उसके जाने के बाद उमा प्रतुल के घर आने की प्रतीक्षा ही कर रही थी कि एक स्त्री अपने ४-५ वर्ष के एक बच्चे को लिये आयी। उसके सब कपड़े भींग रहे थे। आते ही उसने आँखों में पानी भरकर कहा—"देखो बहू, तुम्हारे प्रतुल के लच्छन! इस बेचारे को भरे तालाब में ढकेल दिया। यह तो भला हो बेचारे एक राहगीर का, जिसने तुरन्त कूदकर इसे बचा लिया; वर्ना मैं तो आज निपूती हो गयी होती!"

अभी उमा कुछ कहने ही जा रही थी कि पीछे से आकर प्रतुल ने कहा—"भला तुम्हीं सोचो माँ, अगर कोई तैरना नहीं जानता, तो बाढ़ आने या नौका डूबने पर अपनी प्राण-रक्षा कैसे करेगा? मैं चाहता हूँ कि हमारे देश का बच्चा-बच्चा तैरना सीखे। इस बुद्धू की मोटी अक्ल में यह बात आ नहीं रही थी, इसीलिये मैंने इसे सबक सिखाने का जरा एक हाथ दिखाया।"

"और उसकी जान चली जाती तो ?"—उमा ने चिढ़कर पूछा।

"तो इसमें मेरा क्या कसूर ? न तैरने वाला हमेशा डूबता ही है—उसे डूबना ही चाहिये।"—कहकर प्रतुल लापरवाही से बाहर चला गया।

लड़के को बिस्कुट-टिकिया देकर तथा उसकी माँ से माँफी माँगकर उमा ने छुट्टी पायी। साँझ होते-होते एक लड़की अपने भाई को लेकर आयी, जो सिसक रहा था और जिसके सिर से खून बह रहा था। उसके कुछ कहने से पहले ही प्रतुल ने पीछे से तमककर कहा—"इनकी फरियाद पर कान न देना माँ। ये कायर हैं। पिटकर फरियाद करने वाले न सिर्फ़ दब्बू और कायर ही होते हैं, बल्कि दुनिया में कुछ भी कर-धर नहीं सकते। इसलिये मैं कभी किसी से पिटकर घर नहीं लौटता। क्यों, ठीक है न माँ।"

उमा ने अपनी एक पुरानी रेशमी साड़ी से एक टुकड़ा फाड़कर उसे जलाया और बच्चे के घाव में उसकी राख भरकर उसकी बहन से बार-बार माफी माँगी तथा प्रतुल को माकूल सजा देने का आश्वासन देकर उन्हें विदा किया।

इस तरह की बातें कोई आकस्मिक अथवा अपवाद-स्वरूप नहीं थीं। अक्सर उमा को इसी तरह की परेशानियों में से गुजरना पड़ता था। वह समझ नहीं पा रही थी कि आखिर इन सबका क्या इलाज करे ? उसके सभी उपाय-उपचार बेकार हो चुके थे। डराने-धमकाने या मारने का प्रतुल पर कोई असर नहीं होता था। कई बार उसने उसे खाना नहीं दिया, तो वह बिना खाये ही सो गया और सुबह उठकर बिना कुछ खाये-पिये फिर अपनी शरारतों की 'ड्यूटी' पर चल दिया ! इससे उमा की परेशानी और भी बढ़ जाती थी। डर नाम की किसी चीज से तो जैसे वह परिचित ही न था। माता-पिता में से किसी का भी स्नेह उसे नहीं मिला था—मिला था माँ का घृणा-मिश्रित तिरस्कार और पिता की तिरस्कार-मिश्रित उपेक्षा; शायद इसीलिये वह काफी ढीठ हो गया था।

—२—

स्नान कराकर उमा ने प्रतुल को पाउडर लगाया और कहा—"जा, जल्दी से कपड़े पहन ले।"

प्रतुल बिना कुछ बोले उठा और निकर, बनियान हाफशर्ट, मोजे तथा जूते लाकर उमा के समाने रख दिये और प्रतीक्षा-भरी आँखो से उसकी ओर देखने लगा। एक क्षण असमंजस के साथ उमा ने उसकी ओर देखा, फिर तुनककर कहा—"नंगा क्यों खड़ा है? कपड़े नहीं पहनेगा?"

"तुम पहना दो।"—मुँह बनाकर धीरे से प्रतुल ने कहा।

उमा का हृदय चलते-चलते जैसे पल-भर को रुक गया हो। खीझकर उसने कहा—"इतना बड़ा गधा होने आया और अभी तक कपड़े पहनने की भी तमीज नहीं!"

"तुमने गधा क्यों पैदा किया, माँ?" सहज भाव से प्रतुल ने कहा।

"न पढ़ना, न लिखना और ज़बान बिलाँत भर की!" उमा झुँझला उठी। प्रतुल ने लगभग पूरी ज़बान मुँह से बाहर निकाली और अपने बालिश्त से नापकर बोला—"ना माँ, बिलाँत भर तो नहीं है मेरी जीभ। तुम्हारा अन्दाज़ कुछ ठीक नहीं, माँ!"

इस बार उमा अपनी हँसी नहीं रोक सकी और खीझकर प्रतुल को हाथ से खींचकर कुर्सी पर बिठाते हुए बोली—"अच्छा बाबा, तू ही जीता; मैं हारी। बस, ले पहन कपड़े।"

कुर्सी पर बैठकर प्रतुल ने अपने दोनों नन्हें हाथों से उमा के गालों को थपथपाते हुए कहा—"मेरी अच्छी माँ, तुम कितनी अच्छी हो! काश, तुम कुछ और अच्छी होतीं!"

उमा ने सहमकर प्रतुल की ओर देखा—वह शरारत से मुस्करा रहा था। ज्यो ही उमा ने बायें पैर का मोज़ा पहनाना चाहा, प्रतुल ने उसे हटाकर अपना दाहिना पाँव आगे बढ़ा दिया और जब उमा ने झुँझलाकर मोज़ा दाहिने पाँव के पंजे पर ही चढ़ा दिया, तो उसे पीछे हटाकर बनावटी

आवाज़ में प्रतुल ने कहा—"ओ ममी, तुम क्या जंगली का माफ़िक मोजा पेनाटा है ? बायें पाँव का मोज़ा दाहिने में क्या पहना जाता है ?"

उमा झुँझलाकर उठने लगी, तो साड़ी पकड़कर उसे फिर बिठाते हुए प्रतुल ने कहा—"अच्छा, माफ करो माँ, अब शरारत नहीं करूँगा। मेरी अच्छी माँ।"

उमा फिर बैठ गयी। मोजे पहनाकर उस प्रतुलने को बनियान और हाफ शर्ट तथा निकर पहनाया। जब वह निकर के बटन बन्द कर रही थी, तो प्रतुल के दोनों नन्हें-नन्हें हाथों ने उसके हाथों को दबा दिया और एक क्षीण स्वर सुन पड़ा—"तुम मुझे पसंद नहीं करती न, माँ ? तुम मुझे प्यार नहीं करती हो न ?"

इस बार फिर झुँझलाकर उमा ने ज्यों ही प्रतुल की ओर देखा; उसके चेहरे पर शरारत न थी, बल्कि आँखों में आँसू चमक आये थे। वह जैसे कुछ कहती-कहती थम गयी। डबडबायी आँखों से प्रतुल ने उसकी ओर देखा और फिर अपने दोनों हाथ उसके गले के दोनों ओर डाल कर उससे चिपट कर रोने लगा। एक क्षण उमा कुछ असमंजस में पड़ी रही, फिर उसने उसे और कसकर छाती से चिपटा लिया और स्वयं भी रोने लगी।

कुछ क्षण बाद उमा ने प्रतुल की आँखों को पोंछा और पूछा—"क्यों रे, आज तुझ में यह नेह और समझ कहाँ से आ गये ? तूने कैसे जाना कि मैं तुझे नहीं चाहती ? प्यार नहीं करती ?"

प्रतुल ने तीक्ष्ण दृष्टि से उमा की आँखों में आँखें डालकर देखते हुए कहा—"कल रात जब तुम्हारा बाबूजी से झगड़ा हुआ, तो मैं आँखें मूँदे पर जगते हुए सब-कुछ सुन रहा था। तुमने नहीं कहा था कि 'अगर यह लड़का न होता, तो अब तक मैं कभी की यहाँ से चली गयी होती। इसने मेरे दिल और दिमाग़ को फँसा दिया है एक नयी उलझन में। न-जाने यह बदनसीब कहाँ से आ मरा मेरे भाग्य में ?' अगर मेरे चले जाने

से तुम्हारी उलझन दूर हो जाय माँ, तो मैं अभी चला जाता हूँ, दूर, बहुत दूर—इतनी दूर कि फिर तुम्हारे बुलाने पर भी कभी न लौटूँगा।"

इस बार उमा का सारा शरीर जैसे एक तीक्ष्ण दंशन से तिलमिला उठा। उसका दिल जैसे बैठने लगा। इसी समय प्रतुल ने दूसरा तीर छोड़ा—"सच बताओ माँ, आखिर वह कौन सी औरत है, जिसने बाबूजी को अपने जाल में फँसा लिया है? तुमसे छीन लिया है?"

इस बार उमा और भी हक्की-बक्की रह गयी! यह ज़रा-सा छोकरा न जाने कहाँ से इन सारी बातों की गठरी बाँधे बैठा है? डबडबायी आँखों से वह केवल प्रतुल की ओर देखती-भर ही रह गयी।

प्रतुल की देहयष्टि कुछ तनी और उसने सहमी हुई आवाज़ में कहा—"आँखें फाड़-फाड़कर यों देख क्या रही हो? क्या मैं कुछ ग़लत थोड़े ही कह रहा हूँ? या तुम्हें यह आश्चर्य हो रहा है कि मैंने ये सारी बातें जान कैसे लीं?"

हाँ, सचमुच उमा को यही अचंभा हो रहा था। और इससे भी अधिक आश्चर्य इस बात का था कि कम उम्र होने पर भी प्रतुल बातों को कितना समझता-बूझता है। पर प्रतुल से वह क्या कहती? बोली—"अच्छा, जाओ, खेलो अभी। जब खाना हो जायगा तो मैं तुम्हें बुला लूँगी, फिर कोई शरारत या लड़ाई-झगड़ा न कर बैठना किसी से।"

"अच्छी बात है!"—एक लम्बी साँस लेकर कहते हुए अपनी गुलेल लेकर फुदकता हुआ प्रतुल बाहर चला गया।

द्वार के पास पहुँच कर प्रतुल रुक गया। भीतर जैसे झगड़ा हो रहा था—फिर उसके बाबूजी और माँ में ही। बाबूजी नाराज़गी के स्वर में कह रहे थे—"इसे समझा दो अच्छी तरह। अगर इस तरह के कारनामे रहे इसके, तो मेरे घर में इसके लिये जगह नहीं है।"

उसकी माँ कुछ न बोली थी। कदाचित् इसीलिये बाबूजी ने फिर

तुनक कर कहा था—"तुम जवाब क्यों नहीं देतीं ? सुना, मैं क्या कह रहा हूँ ?"

"सब कुछ सुना। आज कोई नयी बात थोड़े ही है ?"—उसकी माँ ने बिगड़ कर कहा—"पर उसके कुलच्छनों के लिये ज़िम्मेदार कौन है ? मैं उसे सज़ा दे-देकर थक गयी। आखिर उसकी जान तो ले नहीं सकती।"

"अच्छी बात है, तो अब मैं उसे देखूँगा। देखता हूँ, कैसे सीधा नहीं होता है ?"

इसके बाद प्रतुल के बाबूजी बाहर चले आये। प्रतुल फुर्ती से द्वार के बाहर के जीने की ओट में हो गया। जब वे बाहर चले गये, तो उसने दबे पाँवों से कमरे में प्रवेश किया। देखा, उसकी माँ की आँखों में आँसू थे। प्रतुल ने अनुनय भरे स्वर में कहा—"मुझे माफ़ कर दो माँ। आइन्दा ऐसा नहीं करूँगा।"

उमा ने एक झल्लायी हुई दृष्टि से उसकी ओर देखा और फिर बिना कुछ कहे ही दूसरे दरवाजे से सहन की ओर चली गयी। उसके हृदय में एक विचित्र सी हलचल मची हुई थी, पर समझ में नहीं आ रहा था कि वह क्या कहे, क्या करे ?

प्रतुल ने दूसरा पाँसा फेंका। पास जाकर रुआँसे स्वर में बोला—"माँ, बड़ी भूख लगी है, कुछ खाने को दो।"

इस बार भी उमा कुछ न बोली और मुँह फेरकर अपने कमरे में चली गयी। एक क्षण प्रतुल खड़ा रहा—कुछ सोचता-सा; फिर न जाने क्या सोचकर तेजी से मुड़ा और द्वार के बाहर हो गया।

उस रात उमा ने भी खाना नहीं खाया। उसे नींद भी नहीं आयी। प्रतुल के बाबूजी तो रात को घर पर सोना न जाने कब से छोड़ चुके थे, सो वह अकेले ही बिस्तर पर बैठी सोचती रही अपने बारे में, प्रतुल के बारे में और रोज-रोज उठने वाले इस व्यर्थ के तूफ़ान के बारे में। पर सब-कुछ

सोचकर भी जैसे वह कुछ निर्णय नहीं कर पा रही है, उसे अपनी समस्या का जैसे कोई हल नहीं सूझ पड़ रहा है। नींद ही नहीं, जिन्दगी भी जैसे उसकी बैरन हो रही थी, पर वह करे, तो भी क्या ?

इस तरह बैठे और सोचते-सोचते कब रात बीत गयी, उसे पता भी न चला। उसके पति ने जब उसके कमरे में प्रवेश किया, तो उसकी आँखें ऐसे खुली थीं, मानो किसी मूर्ति की घटित आँखें हों, जिसके पलक झँपते ही न हों। अपने आने पर भी जब उन्होंने उमा की दृष्टि और चेहरे पर कोई प्रतिक्रिया नहीं देखी, झुँझलाकर बोले—"इतना उजाला हो गया है और तुम अभी बिजली जलाये पलँग पर ही बैठी हो ?"

"हूँ ! हैं !"—हक्का-बक्का होकर उमा ने इधर-उधर देखा। वह कुछ कहे, इससे पहले ही उसके पति ने पीछे मुड़कर देखा। इशारा पाकर एक आदमी कपड़े में लिपटी किसी चीज को दोनों हाथों पर उठाये भीतर आया और उसे उमा के पावों के पास रख दिया। उमा की आँखें और फैल गयीं और घबराकर उसने पूछा—"क्या है यह ?"

उसके पति ने सिर झुका लिया। यद्यपि उनकी आँखों में आँसू न थे, तथापि उनके चेहरे पर असाधारण उदासी थी, यह उनके कमरे में प्रवेश करने पर ही भासित हो गया था।

उमा ने फिर खीझकर पूछा—"क्या है यह ? बताते क्यों नहीं बोलो।"

इस बार उसके पति का मौन भंग हुआ। काँपते हुए होठों से बोले—"प्रतुल की लाश है ! आज सुबह पुलिस ने इसे शाहजी के तालाब में तैरते हुए पाया।"

उमा के मुँहसे एक जोर की चीख निकल गयी और वह 'हाय मेरे लाल, तूने यह क्या किया !' कहते हुए उस पर गिर पड़ी। अँधेरे की एक मोटी चादर ने जैसे आज उन दोनों को ढँक लिया था।

## हमारे नये उपन्यास

*नई पौध* ● *नागार्जुन*

लेखक की तीसरी महत्त्वपूर्ण कृति जो एक बार फिर ग्राम्य-जीवन के मधुर संगीत में आपको विभोर कर देगी। लोक-जीवन के स्नेह, ममता और मोह के साथ उसका संघर्ष भी अद्‌भुत ढंग से चित्रित हुआ है। २॥)

*अँधेरे के जुगनू* ● *डा० रांगेयराघव*

महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक उपन्यास जो एक बार फिर इतिहास के अँधेरे पृष्ठों को प्राणवान बनाकर सजीव कर देने की अद्‌भुत क्षमता के कारण ऐतिहासिक उपन्यासों में गौरवशाली स्थान प्राप्त करेगा। ५)

*साइकिल चोर* ● *लूईजि बार्तोलीनि*

सुप्रसिद्ध इटैलियन उपन्यास जिसके प्रकाशन ही के साथ इटली ही नहीं सारे संसार में तहलका मच गया। अनु० श्रीकान्त ३)

*भूख* *न्यूट हैमसन*

नार्वे का नोबुल पुरस्कार प्राप्त उपन्यास जिसमें अद्‌भुत मार्मिकता से मानवीय भावनाओं का चित्र उपस्थित किया गया है। मनुष्य के जीवन में रोटी का अभाव कितना महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है इसे इस पुस्तक में पढ़िये। हिंदी अनुवाद में रोचकता और कथा-प्रवाह की पूर्ण रक्षा की गई है। (प्रेस में) ३॥)

*नाना की माँ* *एमिल जोला*

सुप्रसिद्ध उपन्यासकार एमिल जोला की महत्त्वपूर्ण कृति जिसने संसार के उपन्यास साहित्य में अपना स्थान बना लिया। हिंदी अनुवाद में पुस्तक की प्रतिष्ठा की अभिवृद्धि ही हुई है। ३)

**किताब महल ● प्रकाशक ● इलाहाबाद**

*

## अच्छी पुस्तकें अच्छे व्यक्तित्व का निर्माण करती हैं

### और

हम आपको आपके व्यक्तित्व के निर्माण-कार्य में यथा सहायता प्रदान करने के लिए उत्सुक हैं। यदि आपका नाम ५ हजारों ग्राहकों की भाँति हमारी उस सूची पर लिखा हुआ नहीं है, जिन्हें हम बराबर अपने नये प्रकाशनों की सूचना देते रहते हैं तो आज ही एक कार्ड अपने नाम पतेसहित हमारे पास लिख भेजें। एक बार आपका कार्ड मिल जाने पर हम आपको नियमित रूप से विविध प्रकार के मनोरंजक साहित्य के—जिनमें उपन्यास, (जासूसी और सामाजिक) कहानी संग्रह अन्य साहित्य आदि भी सम्मिलित हैं—नये प्रकाशनों की खबरें भेजते रहेंगे। अपने यहाँ के किसी भी पुस्तक-विक्रेता से हमारी पुस्तकें माँगें। अगर कोई दिक्कत हो तो सीधे हमें लिखें।

## एक और परामर्श

(१) आप आजकल के बढ़े हुए डाकखर्च से परिचित ही होंगे। स्थिति यह है कि एक रुपये की पुस्तक डाक द्वारा मँगाने पर लगभग एक रुपया ही व्यय पड़ जाता है। इसलिए अपने यहाँ के पुस्तक-विक्रेता से अनुरोध कीजिये कि वह आपकी रुचि की पुस्तकें हमसे मँगाये। हम पुस्तक-विक्रेता को भी सुविधाएँ देंगे और आपकी भी बचत में सहायक होंगे।

(२) यदि कोई पुस्तक-विक्रेता आपके अनुरोध पर विचार न करे तो आप उसका नाम-पता हमें लिख भेजिये। आपकी सुविधा के लिए हम उनसे आग्रह करेंगे कि वे आप द्वारा माँगी गयी पुस्तकें अपने यहाँ रखें।

**किताब महल ● प्रकाशक ● इलाहाबाद**